※ ओ३म् ※

यह धन किसका है ?

लेखक
दिवंगत महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन,
४४०८, नई सड़क
दिल्ली-११०००६

संस्करण : चतुर्थ, मई १९८१

मूल्य : १०.००

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

फिर एक बार !

एक बार फिर, पूज्य श्री आनन्द स्वामी जी महाराज की एक अन्य कथा आपके सामने है। इसमें उन्होंने बताया है कि धन-वैभव, सम्पत्ति और शक्ति आदि का ठीक उपयोग क्या है। पूज्य स्वामी जी महाराज की यह कथा सन् १९६९ के अगस्त महीने में 'आर्यसमाज पटेल नगर' (दिल्ली) में उन दिनों हुई थी जब कांग्रेस दो भागों में बँट रही थी; जब बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने इस देश में एक नई लहर-सी जगा दी थी और जब बार-बार 'सोशलिज़्म' या 'समाजवाद' का नाम लिया जा रहा था। यह तो स्पष्ट ही है कि पूज्य स्वामी जी महाराज राजनैतिक व्यक्ति नहीं हैं, किसी राजनैतिक दल से उनका सम्बन्ध नहीं है; ऐसे सीमित सिद्धान्तों और उनके आधार पर निरूपित राजनैतिक आदर्शों से भी उनका सम्बन्ध नहीं है। उनके लिए सभी मानव एक-समान हैं; सब देश अपने देश हैं; सब जातियाँ अपनी जातियाँ हैं। उनका संसार आत्मा और परमात्मा का संसार है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उन्होंने बताया कि मनुष्य को लगातार ऊपर उठानेवाला और सुख तथा शान्ति की ओर ले-जानेवाला वास्तविक 'समाजवाद' क्या है? धन-वैभव, सम्पत्ति आदि का वास्तविक उपयोग क्या है? मनुष्य को, जो इस संसार में आया है, रहना कैसे है? और, उसको करना क्या है?

पूज्य स्वामी जी महाराज की इस कथा को आपके सामने रखते समय मुझे जहाँ प्रसन्नता होती है कि आध्यात्मिक अमृत का एक और छलकता हुआ प्याला आपके सामने रख रहा हूं, वहाँ मुझे इस बात का खेद भी होता है कि पूज्य स्वामी जी की प्रत्येक कथा मैं आपके सामने रख नहीं सकता। वे संन्यासी हैं; आज यहाँ, कल किसी दूसरे नगर में, परसों तीसरे में; कुछ दिन पश्चात् किसी दूसरे देश में, फिर किसी

और ही विदेश में। मैं ठहरा ज़ंजीरों में बँधा एक निर्बल व्यक्ति ! उनकी प्रत्येक कथा मैं सुन नहीं सकता। वे दिल्ली में कथा करें, तब भी प्रत्येक कथा में प्रतिदिन उपस्थित नहीं हो सकता। कभी-कभी उनकी कोई कथा मैं सुन-लिख पाता हूँ तो उसी को मैं आपके सामने प्रस्तुत कर देता हूँ, ऐसे ही, जैसे कि अमृत की कोई नदी बहती हो और कोई व्यक्ति उसीसे एक चुल्लू भरकर कहता हो—'देखो ! कितना मीठा अमृत है यह !'

हाँ, यह अमृत मीठा है। परन्तु यह पूरी नदी कितनी मीठी है, इसकी लहरों का संगीत कितना मधुर है, इसकी गोद में कितनी शीतलता है, इसकी गहराइयों में कितना आनन्द है, यह तो केवल इन कथाओं से ही कोई जान सकता है।

—रणवीर

पहला दिन

[कथा आरम्भ करने से पूर्व पूज्य स्वामी जी महाराज ने उच्च ध्वनि, मधुर स्वर तथा लम्बी लय में 'ओ३म्' का उच्चारण इस प्रकार किया कि श्रोताओं की मानो समाधि ही लग गई। इस समाधि को तोड़ते हुए उन्होंने कहा—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो!

मैं इस गर्मी और उमस में अपने को देखता हूँ तो मुझे अपने-आप पर खेद होता है कि मैंने इस ऋतु में यहाँ कथा करना क्यों स्वीकार कर लिया? गर्मी की यह ऋतु और बरसात की यह रात! इस समय तो यह चाहिए कि मनुष्य एक धोती और बनियान पहनकर मकान की छत पर पंखे की हवा में लेट जाय। मैंने पटेलनगर आर्यसमाज के प्रबन्धकों से कहा था कि कथा के लिए ये दिन ठीक नहीं हैं; कथा तो ऐसी ऋतु में होनी उचित है कि जिसमें सब लोग सुख-चैन से बैठे हुए आत्मा-परमात्मा की बात सुन सकें। सबको पसीना आ रहा हो, कथा करनेवाला भी पसीने में बिलकुल भीगा जाता हो तो कथा से वह लाभ नहीं होता जो होना चाहिए, यह बात मैंने इन प्रबन्धकों से कही और साथ यह भी कहा कि मैं विदेश जाने की तैयारी कर रहा हूँ, परन्तु ये सज्जन माने ही नहीं। इसी कारण आप भी पसीने में भीगे हुए हैं और मैं भी। परन्तु इस गर्मी में आप यहाँ आए, इससे मुझे प्रसन्नता भी हुई है, यह समझकर कि आप आध्यात्मिकता की बात सुनना चाहते हैं। परन्तु इस बात को कहने से पहले मैं एक दूसरी बात निवेदन करना चाहता हूँ। अभी एक भाई ने मेरे सम्बन्ध में कहा, 'आनन्द स्वामी केवल आर्यसमाज का ही नहीं, हिन्दुओं का भी नेता है।' मैं समझता हूँ कि इस भाई ने मुझे दो बार गाली दी; 'नेता' शब्द मुझे गाली-सा प्रतीत होता है। आजकल के सभी नेता, भले ही वे कांग्रेस के

हों, जनसंघ के हों, कम्युनिस्ट पार्टी के हों, या किसी दूसरी पार्टी के हों, वे जो कुछ कर रहे हैं वह तो पेट-सेवार्थ है। अपने स्वार्थ के लिए ये सज्जन देश और समाज के लिए संकट उत्पन्न किये देते हैं। इसलिए मेरे सम्बन्ध में जब कोई कहता है कि मैं नेता हूँ तो मुझे यह गाली-जैसी प्रतीत होती है। मैं किसी का नेता नहीं हूँ; केवल एक सेवक हूँ; और सबकी सेवा करता हूँ; वह भी इस प्रयोजन से नहीं कि किसी पर उपकार करता हूँ, अपितु इस प्रयोजन से कि मन में एक आग है, एक दर्द है दिल में जो कहता है कि लोगों को सुख तथा शान्ति का मार्ग दिखाओ। अपने मन की इस पुकार के कारण मैं स्थान-स्थान पर घूमता फिरता हूँ। गर्मी, सर्दी, वर्षा की चिन्ता किए बिना एक सन्देश सुनाने की कोशिश करता हूँ। यह किसी पर कृपा नहीं है, किसी की नेतागीरी नहीं है; यह तो अपने मन की विवशता है। मुझे ऐसा करके ही प्रसन्नता मिलती है।

परन्तु जो नेताजन स्वार्थ-सिद्धि का यत्न करते हैं, उनकी भी मैं निन्दा नहीं करता। यह केवल उनका ही नहीं, इस युग का धर्म बना जाता है। आजकल प्रत्येक मनुष्य एक ही बात सोचता है; प्रत्येक मनुष्य ने इस एक ही बात को जीवन की सफलता का साधन समझ लिया है और वह बात है धन-वैभव-सम्पत्ति और शक्ति की अभिलाषा। मैं इस अभिलाषा की निन्दा नहीं करता, परन्तु जब यह सीमा से बढ़ जाती है तो बुरी हो जाती है—

अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धुप॥

आज इस अभिलाषा के विषय में अति होती जा रही है। वेद भगवान् ने अर्थ अर्थात् धन-वैभव-सम्पत्ति और शक्ति की निन्दा नहीं की, सबकी प्रशंसा की है उसने। परन्तु, प्रत्येक बात की कोई सीमा होती है और आज इस सीमा को भुला देने का यत्न हो रहा है। जिधर देखो उधर ही 'पैसा! पैसा!' हो रहा है और इस बात के होते हुए भी हो रहा है कि पैसा दिन-प्रतिदिन छोटा हुआ जाता है। कभी एक रुपये में ६४ पैसे होते थे, अब एक सौ हो गए। शायद आगे चलकर

पैसे का मूल्य और भी आधा हो जायेगा और फिर और आधा, और फिर शायद कुछ भी न रहे। इस बात को जानते हुए भी सबके दिमाग में यह पैसा ही घूम रहा है। सबका देवता यही बन गया है। पैसे के लिए कहीं भी जाना पड़े, लोग तत्काल तैयार हो जाते हैं; कनाडा जाना पड़े, ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, जापान या किसी भी दूसरे देश में जाना पड़े। लोग इसीलिए वहाँ जाते हैं कि पैसे अधिक मिलते हैं। नैरोबी में एक भारतीय नवयुवक मुझे मिले। वह कई डिग्रियाँ प्राप्त कर चुके थे। मैंने कहा, "इतनी डिग्रियाँ ले लीं; अब तो भारत में पहुँचकर अपने देश की सेवा करो!" वह बोले, "भारत में क्या रक्खा है जी? वहाँ अध्यापक का वेतन ढाई सौ रुपये मासिक है और कनाडा में ढाई हज़ार रुपये मासिक। मैं तो कनाडा जा रहा हूँ।" अर्थात्, रुपया-पैसा ही सब-कुछ हो गया; देश के सम्बन्ध में कोई कर्त्तव्य रहा ही नहीं!

मैं भी दूसरे देशों में जाता हूँ। पिछली बार आर्यसमाज पटेलनगर में कथा की तो नैरोबी, उगांडा, मॉरिशस जाने से पहले। अब यहाँ कथा करने आया हूँ तो जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका, दक्षिण-अमेरिका जाने से कुछ देर पहले। परन्तु मैं रुपये-पैसे के लिए तो जाता नहीं; एक दूसरे ही काम के लिए जाता हूँ। किसी से कुछ लेने नहीं, सबको कुछ देने के लिए। परन्तु, आज तो प्रत्येक आदमी को लेने की चिन्ता है, प्रत्येक आदमी को अपने स्वार्थ की अभिलाषा है।

अफ्रीका में एक जाति रहती है जो मनुष्य का मांस खाती है। मैं केन्या में था किसम्बू के भीतर। वहाँ मैंने एक सज्जन से कहा, "मैं उन लोगों को देखना चाहता हूँ जो मनुष्य का मांस खाते हैं।"

वह सज्जन बोले, "यह तो बहुत कठिन है। वहाँ कोई जा नहीं सकता।"

तभी एक सज्जन मिले जो उस क्षेत्र में रहते थे। उन्होंने बताया, "मैं आपको वहाँ ले-जा तो सकता हूँ परन्तु पहले अपने अंग्रेज़ मालिक की अनुमति लेनी होगी।"

अनुमति लेकर वह मेरे पास आए। मुझे मनुष्य-भक्षियों के उस

क्षेत्र में ले गये। एक ऊँचा पहाड़ है वह। चीड़ और देवदारु के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से घिरा जंगल है। इस जंगल में वे मानव-भक्षी 'जेव' की तरह के मकान बनाकर रहते हैं—आधा मकान ज़मीन के अन्दर, आधा ज़मीन के बाहर। मकान में जाना हो तो शरीर का निचला हिस्सा मकान में पहले चला जाता है और ऊपर का हिस्सा बाद में।

हम जीप में वहाँ पहुँचे तो मनुष्य के मांस को खानेवाले ये लोग अपने मकान से यह समझकर बाहर आ गए कि एक नया शिकार आया है। परन्तु मेरे साथी ने अपना नाम लेकर बताया कि मैं आया हूँ। तब वे हँस-हँसकर बातें करने लगे। मेरे एक साथी ने उन्हें बताया कि मैं कौन हूँ—एक प्रतिष्ठित आध्यात्मिक गुरु। उन लोगों की भाषा में ईश्वर को 'मोंगू' कहते हैं। मेरे साथी ने मुझे भी 'मोंगू' कह दिया।

मैंने उन लोगों से पूछा, "आप आदमी को क्यों खाते हैं? संसार में दूध है, मक्खन है, फल है, सब्ज़ियाँ हैं; इन सबके होते हुए मनुष्य का मांस खाने की क्या आवश्यकता है?"

वे हँसते हुए बोले, "दूध, घी, मक्खन, सब्ज़ियाँ तो ग़रीबों का खाना है। फिर इनमें वह स्वाद कहाँ जो आदमी के मांस में है!"

मैंने हँसते हुए पूछा, "अभी तो मैं इन सज्जन के साथ आया हूँ जिन्हें आप पहचानते हैं, यदि मैं अकेला आता तो आप क्या करते?"

वह बोले, "हम आपको बाँधकर एक स्थान पर बिठा देते; आपके चारों ओर नाचते; फिर आग जलाकर उसपर एक बड़ा तवा रख देते। जब वह खूब गर्म हो जाता तो आपका सिर काटकर उसके ऊपर रख देते। एक ओर तवे पर आपका सिर नाचता, दूसरी ओर हम नाचते। फिर आपके शरीर का मांस काट-काटकर हम सब लोगों को बाँट देते। क्योंकि आप 'मोंगू' हैं, आध्यात्मिक आदमी हैं, अन्त में जब आपकी केवल हड्डियाँ रह जातीं, तब उन्हें एक स्थान पर दबाकर समाधि बना देते। इस समाधि की प्रतिदिन पूजा करते, क्योंकि आप मोंगू हैं।"

मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह मोंगू होना तो बहुत ही भयावह बात है। परन्तु उसी गाँव में मैंने पंजाब के एक सरदार साहब को

देखा तो मुझे यह जानने की उत्सुकता हुई कि यह सरदार साहब मनुष्य-भक्षियों के उस गाँव में क्या करते होंगे ? उनसे पूछा तो पता लगा कि वहाँ दुकान करते हैं। मैंने पूछा, "आपको इनसे डर नहीं लगता ? ये तो आदमी को खा जाते हैं ?"

वह बोले, "डर तो रहता ही है; परन्तु ये मुझे खाते नहीं हैं। मैंने इनकी एक लड़की अपने घर में रख ली है। फिर भी यदि इनके मन में आ जाय और ये खा ही लें तो इन्हें रोकेगा कौन ?"

मैंने कहा, "फिर आप अपने देश से इतनी दूर इतने भयानक लोगों में रहने क्यों आए हैं ?"

वह बोले, "पेट के लिए आया हूँ। पैसे के बिना तो पेट का धन्धा चलता नहीं है।"

ऐसा है यह पैसा ! आदमी को कहाँ-से-कहाँ ले जाता है !

एक अमीर आदमी था, व्यापारी सज्जन। यहाँ करौल बाग, पटेल-नगर, या राजेन्द्र नगर का नहीं; किसी दूसरे स्थान का। मर गया तो धर्मराज के सम्मुख उपस्थित हुआ। परमात्मा ने धर्मराज से कहा, "इसका हिसाब-किताब देखो।"

धर्मराज ने हिसाब देखकर बताया, "महाराज ! इसके आधे पुण्य हैं, आधे पाप, दोनों बराबर हैं। जितने दिन यह स्वर्ग में रहेगा, उतने ही दिन नरक में।"

परमात्मा उस समय शायद मौज में थे। उन्होंने व्यापारी से पूछा, "क्यों भई, पहले तुझे स्वर्ग में भेजें या नरक में ?"

व्यापारी ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज ! यदि आप प्रसन्न ही हैं तो मुझे वहाँ भेजिये जहाँ दो पैसे का अधिक लाभ हो !"

अर्थात् दो पैसे का अधिक लाभ हो तो वह साहब नरक में भी जाने को तैयार हैं ! यह कैसा मोह है पैसे का ? धन-वैभव-सम्पत्ति के लिए मनुष्य क्या-कुछ करने को तैयार नहीं हो जाता !

परन्तु यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के पहले मन्त्र में भगवान् कहते हैं—

'कस्य स्वित् धनम् ?' (किसका धन है यह ?)

किसी धनवाले से यह प्रश्न पूछिये तो वह कहेगा—'मेरा धन है यह !' और फिर उससे पूछिये, 'तू कब तक है ?' तो यह उसे पता नहीं। कौन जाने एक वर्ष, दस वर्ष, बीस या पचास वर्ष ? कौन जाने केवल दस सैकंड, बीस या पचास सैकंड ? कौन जाने अभी जो साँस आया, उसके बाद आए या न आए ? लोग खड़े-खड़े मर जाते हैं, दुकान या दफ्तर जाते-जाते मर जाते हैं, वहाँ से आते-आते मर जाते हैं। प्लान बनाते हैं बड़े-बड़े, महीनों और वर्षों के, मालूम यह भी नहीं कि कुछ महीनों के बाद स्वयं होंगे या नहीं—

'सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं।'

और पल···यह अन्तिम पल कब आयेगा ? इसका भी पता नहीं। यह आता है और लोग सब-कुछ छोड़कर चले जाते हैं—

लो चला गया बंजारा,
छोड़ के घर यह सारा।
महल यहाँ पर, माड़ी यहाँ पर,
बेटे यहाँ पर, नारी यहाँ पर॥

इसी प्रकार चले जाते हैं लोग। धन-वैभव-सम्पत्ति, हीरे और मोती, कभी किसी के साथ नहीं गए। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज का एक भक्त था—दुनीचन्द। लाहौर में रहता था वह। जब भी उसके पास एक करोड़ रुपया नया जमा होता तो वह अपने घर पर एक नया झण्डा लगा देता। कितने ही नये झण्डे उसके घर लहराते थे। गुरु महाराज उसके घर पर गए तो आश्चर्य से बोले, "दुनीचन्द, ये झण्डे क्यों लगा रक्खे हैं तूने ?"

दुनीचन्द बोला, "महाराज ! जब भी नया एक करोड़ रुपया जमा हो जाय तो मैं एक नया झण्डा अपने घर में लगा देता हूँ।"

गुरु महाराज ने झण्डों को देखा और धीरे-से मुस्कराये। दूसरी बातें करते रहे। खाना खाया। वापस जाने लगे तो दुनीचन्द को एक ओर ले-जाकर बोले—"दुनीचन्द, मेरा एक काम करेगा ?"

दुनीचन्द ने सिर झुकाकर कहा, "मैं तो आपका दास हूँ; आज्ञा कीजिये।"

गुरु महाराज ने अपने चोले से एक सुई निकालकर उसको देते हुए कहा, "मेरी यह सुई अपने पास रख ले, मैं अगले जन्म में ले लूँगा। इसे सँभालकर रखना ! गुम नहीं करना !"

दुनीचन्द ने वह सुई लेकर सँभाल ली। गुरु महाराज उसको आशीर्वाद देकर चले गए। उनके जाने के बाद दुनीचन्द की पत्नी ने पूछा, "गुरु जी आपको अलग ले-जाकर क्या कह रहे थे ?"

दुनीचन्द ने कहा, "उन्होंने एक सुई सँभालने को दी; कहा—अगले जन्म में तुझसे ले लेंगे।"

"अगले जन्म में ?" पत्नी ने आश्चर्य प्रकट किया।

दुनीचन्द ने कहा—"यही तो कहा उन्होंने।"

"परन्तु अगले जन्म में तुम इस सुई को ले-जाओगे कैसे ? मृत्यु के समय तो कोई कुछ भी साथ नहीं ले जाता। गुरु महाराज का अभिप्राय कुछ और होगा। आपने उनसे पूछा क्यों नहीं ?"

दुनीचन्द बोला, "यह पूछना तो मैं भूल ही गया।"

"पत्नी ने कहा, "तो चलो दौड़ो, पूछो उनसे कि उनका अभिप्राय क्या है ?"

दोनों गुरु महाराज के पीछे-पीछे दौड़े और थोड़ी देर के पश्चात् उनके पास पहुँच गए। उनके चरणों में सिर झुकाकर दुनीचन्द ने कहा, "महाराज ! आपकी बात मेरी समझ में नहीं बैठी। आपने कहा कि यह सुई आप अगले जन्म में मुझसे ले लेंगे, परन्तु अगले जन्म में मैं इस सुई को साथ कैसे ले जाऊँगा ?"

गुरु महाराज ने हँसते हुए कहा, "ऐसे ही ले जाना दुनीचन्द, जैसे अपने करोड़ों रुपये ले जाओगे।"

पत्नी बोली, "परन्तु महाराज, ये करोड़ों रुपये भी तो साथ नहीं जाएँगे ?"

गुरु महाराज ने मुस्कराते हुए कहा, "नहीं जाएँगे तो फिर इन्हें जमा क्यों कर रहे हो ? बाँट दो इन्हें उनको, जिन्हें आवश्यकता है। तुम्हारा यह शुभ कर्म ही तुम्हारे साथ जाएगा। यह वैभव कभी किसी के साथ नहीं गया है, तुम्हारे साथ भी नहीं जाएगा।"

सिकन्दर महान् बाबुल में रोगी हो गया। हकीमों ने प्रत्येक चिकित्सा कर ली। किसी से वह अच्छा हुआ नहीं। अन्त में सबने और उसने स्वयं भी समझ लिया कि मृत्यु आएगी अवश्य, इसमें बहुत देर नहीं। सिकन्दर ने आदेश दिया, "मेरे खज़ानों को मेरे सामने लाओ, मैं उन्हें देखना चाहता हूँ।"

लाए गये वे खज़ाने—हीरे, मोती, लाल, पन्ने, पुखराज, नीलम, सोने के अम्बार, चाँदी के ढेर, बादशाहों के मुकुट, बेगमों के आभूषण, हाथी, घोड़े, विविध प्रकार के रथ, हीरों से जड़े चाँदी और सोने के लट्ठ, रेशमी कालीन, सोने के तारों के बने कपड़े—वह सब सामान जो सिकन्दर ने दूसरों से लूटा था; उन देशों के नक्शे जिन्हें सिकन्दर ने जीता था और गुलाम बनाया था। सिकन्दर उन्हें देखता रहा; आँसू बहाता रहा। उसे मालूम था कि उसका अन्तिम समय आ पहुँचा है और उनमें से किसी भी वस्तु को वह साथ नहीं ले-जा सकेगा। इसलिए उसने आदेश दिया, जब मेरी अर्थी उठाई जाय, तब मेरे दोनों हाथ कफ़न से बाहर निकाल दिये जायँ, जिससे लोगों को मालूम हो जाय कि मैं अपने साथ कुछ भी नहीं ले-जा सका। जिसे मैंने लाखों का रक्त बहाकर प्राप्त किया था, वह सब यहीं पर रह जायगा।"

राजा भोज था न, उसके पिता का देहान्त होने लगा तो भोज बहुत छोटा था। भोज के पिता ने अपने छोटे भाई मुंज को बुलाकर कहा, "देखो भाई, भोज अभी बच्चा है। जब तक वह बड़ा नहीं होता, तब तक इस राज को तुम सँभालो। जब भोज वयस्क हो जाय, तब यह सारा राज्य इसको सौंप देना। यह इसका है।"

मुंज ने कहा, "ऐसा ही करूँगा, भाई!"

भाई का देहान्त हो गया, मुंज राजा बने। भोज का पालन-पोषण करने लगे। भोज बड़ा होने लगा। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' भोज छुटपन में ही बहुत सयाना, समझदार और विद्वान् बन गया। वह सोलह वर्ष का हुआ तो मुंज के मन में चिन्ता जाग उठी। मन-ही-मन उसने सोचा, 'भोज अभी से इतना सयाना है, आगे चलकर क्या होगा ? तब मुझे यह गद्दी छोड़नी पड़ी तो मैं करूँगा क्या ?'

देखो, मिली हुई गद्दी कोई भी छोड़ना नहीं चाहता। ऐसा नशा है यह, जिसे एक बार मिल जाय वह इससे चिपटकर बैठ जाता है। कांग्रेस में आजकल फूट जाग उठी है, उसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या है कि कुछ लोग गद्दी चाहते हैं, दूसरे छोड़ना नहीं चाहते। इसी बात पर कांग्रेस में और देश में ले-दे हो रही है कि प्रधान कौन बने ? अमेरिका से भी रुपया आ रहा है, रूस से भी। निर्णय यह होगा कि हिन्दुस्तान में प्रधान कौन बने ? कौन छोड़ना चाहता है गद्दी को ?

परन्तु कोई छोड़ना चाहे या न चाहे, अन्त में तो यह छोड़नी ही पड़ती है। राम को छोड़नी पड़ी, रावण को छोड़नी पड़ी—

राम गयो, रावण गयो, जाको बहु परिवार।
कहु 'नानक' थिर कुछ नहीं, सपने-ज्यों संसार॥

और फिर राम और रावण ही क्यों ? कौरवों को गद्दी छोड़नी पड़ी। पाण्डवों को छोड़नी पड़ी। औरंगज़ेब को छोड़नी पड़ी। हिटलर को छोड़नी पड़ी। बेचारे मार्शल अय्यूब को छोड़नी पड़ी। गद्दी कभी किसी के साथ गई नहीं। गद्दीवाले जाते हैं और अवश्य जाते हैं।

मुंज भी गद्दी छोड़ना नहीं चाहता था। उसने फौज के सिपाहियों को बुलाया और काँपती आवाज़ में उन्हें कहा, "भोज को पकड़कर किसी जंगल में ले जाओ। वहाँ उसका वध कर दो। मेरे पास इसकी कटी हुई अँगुली ले आना।"

महाराज का आदेश हुआ तो उसको कौन टाले ? सिपाहियों ने भोज को पकड़ लिया। उसकी गर्दन काटने लगे तो उस छोटे-से सुन्दर बालक पर दया आ गई; बोले, "भोज ! हम तुम्हें मारना तो नहीं चाहते, परन्तु क्या करें ! यह उस व्यक्ति का आदेश है जो राजा बना बैठा है। तुम यदि अपने इस अन्तिम समय में कोई बात कहना चाहते हो तो कहो। हम उसको पूरा करेंगे।"

भोज ने कहा, "मेरे कारण तुमपर कोई विपत्ति आए, यह मैं नहीं चाहता। परन्तु एक काम करो। मैं एक सन्देश लिखे देता हूँ। उसको महाराज मुंज के पास ले जाओ। इसके बाद भी यदि वे कहें कि भोज का वध होना चाहिये तो लौटकर मेरा वध कर देना।"

सिपाहियों ने उसकी बात मान ली। भोज ने पीपल का एक पत्ता लिया; अपनी अँगुली से लहू निकाला। लहू से पत्ते पर एक श्लोक लिखा जिसका अभिप्राय यह था—

"सतयुग में मान्धाता इस पृथिवी के चक्रवर्ती राजा थे। उनके साथ यह पृथिवी नहीं गई। त्रेता युग में राम थे; उनके साथ यह नहीं गई। द्वापर में कौरवों और पाण्डवों के साथ नहीं गई। अब कलियुग में तू इसे साथ ले-जायेगा, इसकी मुझे प्रसन्नता है।"

सिपाहियों ने वह पत्ता लिया और महाराज मुंज के पास पहुँचे; बोले, "सरकार! वह काम पूरा हो गया। मरने से पहले भोज ने आपके लिए यह सन्देश दिया था। इसे हम साथ लाए हैं।"

मुंज ने उस सन्देश को पढ़ा तो उसका मस्तिष्क चक्कर खा गया। चिल्ला उठा वह, "कहाँ है मेरा भोज ?"

हाँ, कई बार ऐसी घड़ियाँ आती हैं मेरे प्यारे, जब जीवन का काँटा बदल जाता है। मुंज के लिए भी वह घड़ी आ पहुँची। रो पड़ा वह! चीखकर बोला, "कहाँ है भोज ? मैंने बहुत बड़ा पाप कर डाला! पृथिवी तो कभी किसी के साथ गई नहीं। दुःख है कि इसी के लिए मैंने भोज का वध कराना चाहा! कहाँ है वह ? उसको बचाने की कोशिश करनी होगी, बचाने का जतन करना होगा।"

सिपाहियों ने कहा, "आपने ही तो कहा कि उसका वध कर दिया जाय ?"

मुंज चीख उठा; बोला, "नहीं-नहीं, उसे वापस लाओ! उसे फिर से जीवित कर दो! मैं अब समझा कि मैं मूर्खता पर था। यह पृथिवी कभी किसी के साथ नहीं गई। मेरे भोज को वापस लाओ!"

सिपाहियों ने कहा, "बहुत अच्छा महाराज!" और वे भोज को वापस ले आए। मुंज ने उसी समय राजपाट भोज को सौंप दिया।

यह धन-वैभव, ये गद्दियाँ बहुत बुरी वस्तु हैं भाई! इनके लिए मनुष्य प्रत्येक पाप करता है। वह भूल जाता है कि धन-वैभव, शक्ति और अधिकार कभी किसी के साथ नहीं गए।

परन्तु धन-वैभव भले ही बुरी वस्तु हो, परन्तु इसके बिना संसार

में गुज़ारा भी तो नहीं होता! गृहस्थाश्रमियों का भी गुज़ारा नहीं होता; संन्यासियों और साधुओं का भी नहीं होता। धन की आवश्यकता सबको होती है। इसीलिये वेद भगवान् ने कहा—

'कस्य स्वित् धनम् ?' (किसका है यह धन ?)

एक किसान कहता है, "मेरा है यह धन! मैंने हल चलाया; मैंने बीज बोया; मैंने धरती को जल से सींचा; मैंने उपज की रक्षा की; इसलिए धन मेरा है।"

पुलिसवाले कहते हैं, "वाहवाह! धन तुम्हारा कैसे है? हम चोर-डाकुओं से इसकी रक्षा करते हैं, इसलिए यह धन हमारा है।"

सैनिक कहते हैं, "चोरों और डाकुओं से भी बढ़े-चढ़े हैं विदेशी आक्रान्ता। हम सीमा पर खड़े रहकर उन विदेशी आक्रान्ताओं से जूझते रहे हैं, इसलिए यह धन हमारा है।"

एक पंडित जी आगे बढ़कर कहते हैं, "वाहवाह! लोगों को सदाचार का उपदेश हम देते रहे; हम इन्हें कहते रहे कि यह धन-वैभव सब माया है और इसके पीछे मत भागो। हमीं इन्हें बताते रहे कि दूसरे के धन को छीन लेना पाप है। हमारे इस उपदेश से ही इस धन की रक्षा हुई, इसलिए यह धन हमारा है।"

पंडित जी की पत्नी ने कहा, "मेरे बिना तुम यह उपदेश दे कैसे सकते थे? मैं तुम्हारी सहायता करती रही, इसलिए यह धन मेरा है!"

और पंडित जी की सन्तान ने कहा, "तुमने पंडिताई की तो हमारे लिए की, इसलिए धन हमारा है।"

एक अन्य व्यक्ति बोल उठा, "तुम सभी भूलते हो! यह धन सदा बलशाली का होता है। जो बलवान् है, उसी का यह धन है।"

कुछ वर्ष पहले रणवीर ने मुझे हँसी की एक बात सुनाई। एक हकीम महोदय थे दिल्ली में—अच्छे बलशाली, भली-भाँति व्यायाम करनेवाले। उनके तीन नवयुवक पुत्र भी थे। अपने और अपने पुत्रों के बल पर बहुत अभिमान था। यह उन दिनों की बात है कि जब लोग पाकिस्तान से आकर दिल्ली में दूसरों के मकानों पर अधिकार जमा रहे

थे। हकीम महोदय ने रणवीर से कहा, "मुझे भी कोई मकान बता दो। मैं भी बलशाली हूँ और मेरे बेटे भी बलवान् हैं, मैं उसपर अधिकार कर लूँगा।"

रणवीर ने सोचते हुए कहा, "एक मकान है। उसका किराया भी कुछ नहीं और उसपर सदा बलवानों ने ही अधिकार जमाया है। आप बलशाली हैं तो उसपर अधिकार कर लीजिये।"

हकीम महोदय बोले, "दिखाओ वह मकान ! मुझसे अधिक बलशाली कौन है ? मैं हूँ, मेरे तीन बेटे हैं। मेरे पास बन्दूक भी है।"

रणवीर ने कहा, "आइये, मेरी मोटर में बैठिये। मैं आपको एक मकान दिखाता हूँ जिसका किराया कभी किसी ने दिया नहीं, जिसपर सदा शक्ति द्वारा अधिकार होता आया है।"

और वह हकीम महोदय को मोटर में बैठाकर लाल किले के सामने ले गया; बोला, "यह है वह मकान, जिसपर सदा शक्ति द्वारा अधिकार किया गया है, जिसका किराया कभी किसी ने दिया ही नहीं।"

उसके पश्चात् हकीम महोदय ने क्या कहा, इस बात को जाने दीजिये परन्तु यह बात तो सच है कि धन सदा बलवान् का है, शक्तिशाली का है। परन्तु इस बलवान् और शक्तिशाली के पास भी क्या यह धन सदा रहता है ? एक दिन ऐसा भी आता है जब बलवान् के पास भी यह धन नहीं रहता। धन-वैभव-सम्पत्ति—सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहते हैं और बल का अभिमान करनेवाला चला जाता है। एक दिन आता है जब बलशाली अन्तिम साँस लेकर इस संसार से चलता बनता है और धन-वैभव-सम्पत्ति सब यहीं रह जाती है।

फिर किसका है यह धन ?

आप कहेंगे कि यह बात तो वेद भी पूछता है '**कस्य स्वित् धनम् ?**' (किसका धन है ?') और जब वेद पूछता है तो तुम कैसे जानते हो कि धन किसका है ? परन्तु यह बात नहीं, मेरे भाई ! वेद पूछता नहीं, उत्तर देता है। वह कहता है, '**कस्य स्वित् धनम् ?**' 'क' कहते हैं भगवान् को। ठीक पढ़ना हो तो यों कहना चाहिये—'क-अस्य स्वित धनम् ? अर्थात् प्रजापति, ईश्वर जो है, उसका धन है।

लोगों को समझाने के लिए हमारे ऋषियों ने ईश्वर के तीन रूप निश्चित कर रक्खे हैं। इनकी तीन पत्नियाँ भी निश्चित कर रक्खी हैं। यह सब समझाने के लिए है—निरी कहानी; वास्तविकता नहीं। वास्तव में तो ईश्वर एक है। उसका कोई रूप नहीं; उसकी कोई पत्नी नहीं है। परन्तु सामान्य जनों को समझाने के लिए जो कहानी बनाई गई है, उसके अनुसार ईश्वर के तीन रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्मा की पत्नी का नाम महासरस्वती, विष्णु की पत्नी का नाम महालक्ष्मी और महेश या महादेव की पत्नी का नाम है महाकाली। विष्णु को नारायण भी कहते हैं। लक्ष्मी और नारायण सदा संग-संग रहते हैं। नारायण भगवान् ईश्वर होने पर भी लक्ष्मी के बिना कभी नहीं रहते। इनकी पूजा करनेवाले दोनों को लक्ष्मी-नारायण कहकर दोनों की एक-साथ पूजा करते हैं। कुछ लोग कहेंगे, 'क्यों जी ! यदि भगवान् विष्णु नारायण और ईश्वर होकर भी लक्ष्मी के बिना नहीं रह सकते तो फिर हम लक्ष्मी के पीछे क्यों न भागें ? हम धन-वैभव-सम्पत्ति का संग्रह क्यों न करें ?'

परन्तु क्या आप जानते हैं कि भगवान् विष्णु महालक्ष्मी के साथ किस प्रकार रहते हैं ? भगवान् लेटे रहते हैं; महालक्ष्मी उनके पाँव दबाती रहती है, उनकी दासी, उनकी सेविका बनकर। और हम ? हम लक्ष्मी के पाँव दबाते रहते हैं इसके दास और सेवक बनकर। धन के लिए हम प्रत्येक काम करने को तैयार रहते हैं—सचाई को छोड़ना पड़े, झूठ को अपनाना पड़े, धर्म को छोड़ना पड़े, पाप की राह पर चलना पड़े, देश के साथ द्रोह करना पड़े, भाई को भाई से लड़ाना पड़े, देश में फूट जगानी पड़े, कुछ भी करना पड़े, धन-वैभव के लिए हम कुछ भी करने को तैयार हैं। पैसा मिलना चाहिये, चाहे वह किसी विधि से भी क्यों न मिले। जो कोई धन दे, उसकी इच्छा के अनुसार हम प्रत्येक बात करने को तैयार हैं। धनवाला कोई भी हो, हम उसके हाथ बिकने को तैयार हैं। आज देखिये इस देश की दशा ! कुछ लोग हैं जो चीन के पास बिके हुए हैं; कुछ दूसरे हैं जो अमेरिका के पास बिके हुए हैं। वे इन्हें ठीकरियाँ देते हैं—सोने और चाँदी की ठीकरियाँ। ठीकरियों के

लिए ये लोग देश को विनाश के मार्ग पर ले जाने की तैयारी में लगे रहते हैं।

परन्तु एक बात सुनिये ! मैं धन का विरोधी नहीं हूँ, धन कमाने के विरुद्ध नहीं हूँ। वेद भी धन का विरोधी नहीं है; महर्षि दयानन्द भी नहीं। इसके बिना मनुष्य का निभाव होता नहीं। परन्तु यह भी समझिये कि धन होता क्या है ? प्रकृति का एक रूप है यह। संसार में तीन सत्ताएँ सनातन हैं; सदा से हैं—प्रकृति, जीव तथा परमात्मा। प्रकृति के रूप बदलते रहते हैं अवश्य। एक रूप नष्ट होता है, दूसरा वन जाता है। शरीर मर जाता है; और इस कारण कि वह सड़ने न लगे, उससे दुर्गन्ध न आने लगे, हम उसे जला देते हैं, दवा देते हैं या किसी दूसरी विधि से समाप्त कर देते हैं। परन्तु समाप्त होने के साथ ही इस शरीर को बनानेवाले हिस्से एक नया रूप धारण कर लेते हैं। राख बनती है। एक लम्बे अन्तर के पश्चात् राख मिट्टी का रूप धारण कर लेती है। मिट्टी से पौधे उगते हैं—अनाज, सब्ज़ी, फल, फूल—मिट्टी के एक रूप को छोड़कर वे विविध रूप धारण कर लेते हैं। इस अनाज, फल, फूल और सब्ज़ी से प्राणियों का शरीर वनता है। इस शरीर से अन्य शरीर उत्पन्न होने लगते हैं। प्रकृति वही है; बार-बार इसका रूप बदलता है; इसका अन्त कभी होता नहीं। वह सदा से है, सदा रहेगी। इसका कोई आदि नहीं, कोई अन्त नहीं।

ऐसे ही जीवात्मा और परमात्मा भी सदा से हैं और सदा रहेंगे। उनका कभी आदि नहीं हुआ; कभी अन्त नहीं होगा।

तो फिर तीनों में अन्तर क्या है ?

अन्तर यही है कि प्रकृति सदा से है, सदा रहेगी, परन्तु वह निर्जीव है, वह अचेत है, अनुभूतिशून्य है; चेतन नहीं है। जीवात्मा सदा से है, सदा रहता है, परन्तु इसके भीतर जीवन है, यह सजीव है, चेतना से युक्त है, सुख-दुःख का अनुभव करता है। वह प्रकृति के समान 'दिन-रात' सदा रहनेवाला ही नहीं, अपितु 'चित्' अर्थात् 'चेतन', अनुभूतिशील भी है। और परमात्मा, जहाँ प्रकृति के समान 'सत्'—सदा रहनेवाला—है और जीवात्मा के समान 'चित्' (एक जीती-जागती

अनुभूतिशील शक्ति) है, वहाँ 'आनन्द' भी है। अनन्त सुख इसके भीतर है, अनन्त शक्ति है और अनन्त मस्ती है।

अब देखिये, एक ओर प्रकृति है और दूसरी ओर परमात्मा। दोनों के बीच जीवात्मा खड़ा है। उसकी इच्छा यह है कि उसे सुख मिले, ज्ञान मिले, शक्ति मिले। इसके लिए वह काम करता है, कर्म के बन्धन में पड़ता है, बार-बार जन्म लेता है, जन्म और मरण के कभी समाप्त न होनेवाले चक्कर में फँसा रहता है। परन्तु यह सुख, यह आनन्द, यह ज्ञान, यह शक्ति, यह मस्ती उसे मिलेगी कहाँ ? यदि वह प्रकृति की ओर जाएगा तो प्रकृति के पास यह सब-कुछ तो है नहीं। उसमें तो केवल एक गुण है—'सत्' (सदा विद्यमान रहना); और यह गुण जीवात्मा में भी है। अपितु, प्रकृति की तुलना में उसमें एक गुण अधिक है—वह 'सत्' होने के साथ-साथ 'चित्' भी है। क्यों जी ? आपने कभी किसी सेठ-साहूकार को किसी कंगाल-भिखारी से भीख माँगते हुए देखा है ? सेठ के पास लाख, दो लाख, दस लाख रुपया है। उसे आवश्यकता है इसके अतिरिक्त बीस-तीस लाख रुपयों की। क्या वह इस रकम को लेने के लिए किसी भिखारी के पास जाएगा जिसके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है ?

नहीं जाएगा न ?

फिर जीवात्मा की दृष्टि में तो यह प्रकृति भी एक भिखारिन है। जीवात्मा को देने के लिए कुछ नहीं है इसके पास। जीवात्मा को देने के लिए यदि किसी के पास कुछ है तो परमात्मा के पास है। अनन्त सुख, असीम आनन्द, असीमित शक्ति और अनन्त ज्ञान का भण्डार तो वही है। जीवात्मा को यदि सुख, आनन्द, ज्ञान और शक्ति की चाह है तो उसके लिए इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि वह प्रकृति का उपभोग अपने अनुकूल करके परमात्मा के समीप जाने का यत्न करे।

देखिये, यह हमारा शरीर है न ? यह सब क्या है ? सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की शक्ति प्रकृति को पाँच मौलिक रूप देती है, अर्थात् आग, पानी, आकाश, वायु और पृथिवी। इन पाँच तत्त्वों

बना हुआ है यह शरीर। परन्तु इस शरीर का महत्त्व अथवा मूल्य केवल तभी तक है, जब तक आत्मा और परमात्मा इसके भीतर बैठे हैं। हमारे शास्त्र शरीर के भीतर रहनेवाले आत्मा का उल्लेख करते हैं तो कई बार 'आत्मानौ' शब्द (दो आत्माओं) का प्रयोग करते हैं। इनमें से एक आत्मा है, दूसरा परमात्मा। आत्मा के कारण और परमात्मा की शक्ति से ही यह शरीर शरीर है, नहीं तो कुछ और बन जाता है। आत्मा के निकलते ही लोग शरीर को परे हटाने लगते हैं; इसको जला देते हैं, पृथिवी में गाड़ देते हैं, पानी में बहा देते हैं।

अब सोचकर देखिये, आत्मा से रहित इस शरीर का जब कोई मूल्य नहीं तो आध्यात्मिकता से रहित समाज, जाति या देश का क्या मूल्य है ? याद रक्खें आत्मा से रहित शरीर जैसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही वह देश, समाज और वह जाति भी नष्ट हो जाते हैं जिनमें आध्यात्मिकता नहीं रहती।

आपके पटेलनगर में पक्षी उड़ते हैं न ? क्या कभी आपने कोई पक्षी केवल एक ही पंख से उड़ते देखा ? नहीं न ? पक्षी उड़ता है उसी समय जब इसके दोनों पंख विद्यमान हों, दोनों काम करें। एक पंख से उड़नेवाला कोई पक्षी संसार में ही नहीं।

परन्तु आज की यह दुनिया केवल एक ही पंख से उड़ना चाहती है—केवल धन, वैभव, सम्पत्ति, महल, मकान, बाग़, मोटरों और मशीनों के बल पर। केवल प्रकृति-पूजा के, प्रकृतिवाद के मार्ग को अपनाकर कैसे उड़ेगी यह ?

विज्ञान ने कितनी उन्नति कर ली ! चाँद पर पहुँच गया मानव। अमेरिका ने दो आदमियों को वहाँ भेज दिया। छः खरब रुपया व्यय कर दिया। दो मनुष्यों को थोड़ी देर के लिए चाँद पर उतारने के लिए छः खरब रुपया ! जानते हैं छः खरब रुपया कितना होता है ? सौ लाख हों तो एक करोड़ बनता है, सौ करोड़ हों तो एक अरब बनता है और सौ अरब हों तो एक खरब बनता है।

बम्बई के एक सज्जन ने चाँद की यात्रा की बात सुनी तो उसने 'एयर इंडिया' वालों को पत्र लिखा कि आपका जहाज़ जब चाँद पर

जाय तो मेरे लिए एक सीट बुक कर देना। पत्र के साथ ही उसने डेढ़ रुपये का चेक भी भेज दिया और लिखा, 'यह पेशगी है सीट बुक कराने के लिए, शेष किराया सीट बुक होने पर दे दूंगा।'

हाँ जी, सच बात है यह। ऐसे भी लोग होते हैं दुनिया में ! और हैं ! मैंने तो सुना कि दक्षिण अमेरिका में एक कम्पनी ने चाँद पर मकानों के लिए प्लॉट बेचने भी आरम्भ कर दिये हैं ! बहुत उन्नति विज्ञान ने की है। बहुत-कुछ दिया है इसने मानव को। परन्तु यह मानव को सुखी तो नहीं बनाएगा। धन, वैभव, माया—कोई भी कभी सुखी नहीं बना सका; क्योंकि यह केवल एक पंख है; दूसरा पंख है आध्यात्मिकता। दोनों जब तक साथ-साथ न हिलें, तब तक सुख के आकाश में यह मानव-पक्षी कभी उड़ता नहीं।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में इसीलिए लिखा, 'संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात्, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।'

यह है दोनों पंखों से उड़ने की विधि ! शरीर को स्वस्थ रक्खो। परन्तु आत्मा को भूखा न रक्खो ! शरीर को स्वस्थ रखना, इसकी रक्षा करना, इसको पालना, इसको भोजन देना, विश्राम देना—यह प्रकृतिवाद है, प्रकृति-पूजा है। आत्मा को उसका भोजन देना, सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना, ध्यानयोग या हठयोग के द्वारा आत्मा को परमात्मा के समीप ले-जाने का यत्न करना—यह अध्यात्मवाद है, आत्म-पूजन अथवा आत्मिकता है। दोनों का ध्यान रक्खो, तभी यह गाड़ी चलती है।

यह डॉक्टर महोदय बैठे हैं न यहाँ ! इनसे पूछिये कि यह शरीर क्या है ? दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं इसमें, जिनसे यह शरीर चलता है। एक प्रकार तो उन नाड़ियों का है कि जिनसे हम देखते, सूंघते, सुनते और अनुभव करते हैं। अँगरेज़ी में इन्हें 'सेन्सरी नर्व्स' (Sensery Nerves) कहा जाता है। दूसरी ऐसी नाड़ियाँ हैं कि जिनसे हाथ-पाँ और शरीर के अन्य अंगों को हिलाते हैं, दौड़ते हैं, भागते हैं, उ बैठते हैं, सब प्रकार के काम करते हैं। अँगरेज़ी में इन्हें 'मोट

(Motor Nerves) कहते हैं। दोनों प्रकार की नाड़ियाँ अपना-अपना काम ठीक प्रकार से करें, तब शरीर चलता है, नहीं तो बेकार हो जाता है।

यह मनुष्य है—खूब हृष्ट-पुष्ट, ऊँचा क़द, चौड़ी छाती, बलिष्ठ बाहु, बलवान् टाँगें। परन्तु यदि इसकी अनुभव करानेवाली इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं तो लोग उसको 'पागल' कहकर घर से या गाँव से बाहर निकाल देते हैं।

एक अन्य मनुष्य है, जिसकी अनुभूतिशील इन्द्रियाँ ठीक से काम करती हैं। इसका मस्तिष्क स्वस्थ है; विचार करने की शक्ति ठीक है; देखने और सुनने की शक्ति नियमानुकूल है। परन्तु यदि गति देने-वाली नाड़ियाँ काम न करें तो यह भी व्यर्थ है। ऐसे आदमी की अवस्था पक्षाघात के उस रोगी के समान है कि जिसका शरीर लकड़ी-सरीखा निर्जीव है। यह देखता है, सुनता है, जानता है, सोचता है; कर कुछ नहीं सकता। उसके सामने घर में डाकू घुसते हैं; उसकी माँ के बाल खींचते हैं; उसके आभूषण उतारते हैं; उसकी छाती में खंजर घोंप देते हैं और वह देखता ही रहता है, देखता ही रहता है।

इसलिए मैं कहता हूँ, इस शरीर के भीतर भी दोनों शक्तियाँ काम करें, तभी ठीक रहता है। नहीं तो बिगड़ जाता है सब-कुछ।

१९६५ में पाकिस्तान ने जब आक्रमण किया हमारे देश पर, तब मैं श्रीनगर में था। अमीर कदल के बाज़ार में एक दुकान पर बैठा था कि एक पाकिस्तानी वायुयान मीना बाज़ार के ऊपर से शूँ-ऊँ करके पार चला गया। हमारे जवानों ने इसे क्षत-विक्षत कर दिया था। थोड़ी दूर जाकर वह गिर गया और टुकड़े-टुकड़े हो गया। मैं उन दिनों आर्यसमाज वज़ीर बाग़ में कथा कर रहा था। सायंकाल कथा आरम्भ हुई तो मैंने कहा, 'अब तो नगर पर भी वायुयान आने लगे हैं। मेरा विचार है कि कथा स्थगित कर देनी चाहिये। इस समय कथा सुनने से भी आवश्यक यह है कि अपने-अपने घरों में जाकर अपने घर की और परिवारों की रक्षा करो।' एक कश्मीरी पण्डित महोदय बोले, 'नहीं स्वामी जी, आप कथा करते रहिये। आपकी कथा से हमें साहस

मिलेगा।' मैंने हँसते हुए कहा, 'आपको तो साहस मिलेगा, पर मुझे कैसे मिलेगा? यहाँ कथा होती रहे, सैकड़ों लोग बैठे रहें, ऊपर से बम आ गिरे और एक-साथ कितने ही लोग समाप्त हो जायँ, यह बात तो मुझे ठीक प्रतीत नहीं होती। कथा आज से बन्द! पहले इस युद्ध से निपट लो, कथा पीछे भी हो सकती है।'

इन्हीं पंडित जी ने पूछा, 'अच्छा स्वामी जी, यह तो बताइये कि इस युद्ध में विजय किसकी होगी?'

मैंने उत्तर दिया, 'यह भी नहीं जानते कि विजय किसकी होगी? इस प्रश्न का उत्तर तो पाँच हज़ार वर्ष पहले भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में दे दिया था। आप गीता नहीं पढ़ते क्या?'

पंडित जी बोले, 'पढ़ता तो हूँ।'

मैंने कहा, 'गीता का अन्तिम श्लोक स्मरण है?'

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् 'जहाँ श्री कृष्ण और जहाँ अर्जुन हैं, वहाँ निश्चित रूप से जीत होती है।'

पंडित जी बोले, 'परन्तु आज कृष्ण कहाँ हैं? अर्जुन कहाँ हैं?'

मैंने कहा, 'हमारे राष्ट्रपति हैं राधाकृष्णन; हमारी वायु-सेना के सेनापति हैं एअरमार्शल अर्जुनसिंह जी। कृष्ण और अर्जुन दोनों ही तो विद्यमान हैं, फिर विजय क्यों नहीं होगी? वेद ने भी तो कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।

अर्थात् 'जहाँ ब्राह्मण-बल (मस्तिष्क-शक्ति) और क्षत्रिय-बल (सोचने की शक्ति और बाहुओं की शक्ति) दोनों विद्यमान हों, वहाँ सदा विजय होती है।'

ठीक ऐसे ही, सुख तब होता है जब प्रकृतिवाद तथा आत्मवाद दोनों साथ-साथ हों। आप धन कमाना जानते हो तो कमाओ। कोठियाँ बनवा लो। अस्सी-पचासी हज़ार में मिलनेवाली मोटर भी खरीद लो! बिस्तर पर डनलप रबर के गद्दे बिछाओ! परन्तु··· परन्तु···परन्तु···

और इस परन्तु के पश्चात् कुछ भी नहीं। शान्ति कभी मिलेगी नहीं। कारण यह कि इन वस्तुओं में शान्ति है नहीं। शरीर का विश्राम है; मन का आनन्द नहीं है। इन सभी वस्तुओं की प्राप्ति के पश्चात् भी बेचैनी रहेगी, सुख मिलेगा नहीं—

गगन अटारी पर नहीं, धरती के नहीं पास।
सारा जग जाको चहै, वाकी एक ही आस॥

कहीं पर नहीं है वह चैन। वैभव से भी नहीं मिलता; दरिद्रता से भी नहीं मिलता। फिर मिलता कब है ? उस समय मिलता है जब भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, प्रकृति-पूजा और आध्यात्मिकता दोनों इकट्ठे होते हैं।

मैं धन कमाने की निंदा नहीं करता। कमाओ धन को ! गवर्नमेंट का टैक्स दो ! इन्कम-टैक्स दो ! सेल्स-टैक्स दो ! प्रॉपर्टी-टैक्स दो ! सम्पत्ति-टैक्स दो ! जल-टैक्स दो ! बिजली-टैक्स दो ! भूमि-टैक्स दो ! आकाश का टैक्स दो ! जीने का टैक्स दो ! मरने का टैक्स दो ! (फिर हँसते हुए उन्होंने कहा)—बहुत-से टैक्स हैं देश में। मैंने एक बार एक सज्जन से पूछा, 'सब मिलाकर कितना टैक्स देना पड़ता है ?'

उसने कहा—'५००० रुपये तक की आय पर कोई टैक्स नहीं है। इससे अधिक पर ५ प्रतिशत टैक्स देना पड़ता है। दस हज़ार से अधिक पर दस प्रतिशत देना पड़ता है। इसके पश्चात् जैसे-जैसे आय बढ़ती है, कर की प्रतिशत-दर भी बढ़ती जाती है। अन्त में दर ६० प्रतिशत हो जाती है।'

मैंने कहा, 'फिर भी लाभ तो है ! सौ रुपये में से चालीस बच जाते हैं। और जब सरकार टैक्स लेती है तो देश का प्रबन्ध भी तो करती है। सेना का व्यय, पुलिस का व्यय, स्कूलों और कॉलेजों को सहायता देने का व्यय, प्रारम्भिक कक्षाओं में निःशुल्क शिक्षा का व्यय, सड़कों-पुलों और रेल की पटरियों का व्यय, विधान सभाओं और संसद् का व्यय, और फिर शासन करनेवाले आपस में लड़ते भी तो हैं—इसका भी व्यय, ये सब खर्च टैक्सों से नहीं तो कहाँ से पूरे होंगे ?'

परन्तु दिलचस्प बात तो यह है कि धन हो तो भी चैन नहीं है; न हो तो भी नहीं है। वह इसीलिये नहीं है कि इस मूलभूत बात को भुला दिया गया है कि यह धन है किसका ? वेद तो स्पष्ट कहता है कि धन तो प्रजापति का है—उसका है जो प्रजा का पालन करता है।

आजकल कितने ही 'इज़्म' चल पड़े हैं; कितने ही 'वाद' आरम्भ हो गए हैं। एक साम्यवाद (कम्युनिज़्म) है; दूसरा समाजवाद (सोशलिज़्म) है। तीसरा पूँजीवाद (कैपिटेलिज़्म) है। चौथा व्यक्तिवाद (फ़ासिज़्म) है। ऐसे कितने ही वाद विद्यमान हैं। जब से 'वेदवाद' को भुलाया लोगों ने, तब से 'वादों' के कई घने जंगल जाग उठे हैं। अब किसी को पता नहीं चलता कि जाना किधर है ? साम्यवादी कहते हैं कि हम सबको ग़रीब बना देंगे। सेठ-साहूकार अधिक भोजन क्यों करते हैं जबकि ग़रीब को पेटभर रोटी नहीं मिलती ? सेठ लोग आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं।

परन्तु कहाँ खा जाते हैं, मेरे भाई ? इनकी दशा तो दयनीय है ! मैं एक बार महात्मा हंसराज जी के साथ वेद-प्रचार-फ़ंड के लिए धन एकत्र करने के वास्ते कलकत्ता गया। एक सेठ जी के यहाँ ठहरे हम दोनों। भोजन का समय हुआ तो सेठ जी ने अपने साथ हमें भी खाना खिलाया। चाँदी की थालियों में चाँदी की कटोरियाँ; उनमें भाँति-भाँति के खाने—हलुआ भी, खीर भी, पूरियाँ भी, फुलके भी; कितनी ही सब्ज़ियाँ और दालें।

हमारी थालियाँ आ चुकीं, तब सेठ जी की थाली आई। वही चाँदी की थाली और उसमें एक छोटी-सी चाँदी की कटोरी। उसमें पीली-सी कोई पतली-सी (द्रव) वस्तु, उसके पास फूला हुआ छोटा-सा अनचुपड़ा फुलका।

मैंने समझा, सेठ जी का अस्ली खाना अभी आएगा, परन्तु वहाँ तो कुछ भी नहीं आया। सेठ जी उसी एक फुलके को धीरे-धीरे खाते रहे, उस पतली-सी वस्तु में प्रत्येक ग्रास को भिगो-भिगोकर।

मैंने पूछा, 'सेठ जी, आप खाना कब खाएँगे ?'

वह बोले, 'खा तो रहा हूँ। यह फुलका, यह मूँग की दाल का पानी,

बस। इतना ही मैं खा सकता हूँ।'

मैंने पूछा, 'तब तो आप दूध अधिक पीते होंगे?'

वह बोले, 'नहीं जी, दूध तो मेरे पेट में वायु उत्पन्न कर देता है।'

मैंने कहा, 'तब शायद आप दही खाते होंगे?'

वह बोले, 'मैंने तो कभी खाया नहीं; मेरे भाई ने एक बार दही खाया था, छः महीने तक जुकाम ने उसका पीछा नहीं छोड़ा।'

मैंने पूछा, 'छाछ तो पीते होंगे आप?'

वह बोले, 'नहीं; छाछ मुझे रास नहीं आती।'

मैंने कहा, 'तब छुहारे, पिस्ते और बादाम खाते होंगे आप?'

वह बोले, 'भगवान् का नाम लो जी! ये तो बहुत गर्म वस्तुएँ हैं, इन्हें पचाएगा कौन?'

मैंने कहा, 'तब आप क्या सेब, मौसमी, सन्तरे, नाशपाती, केले आदि फलों पर रहते हैं?'

वह बोले, 'डॉक्टर ने निषेध कर दिया है। वह कहता है कि फल भी मेरे लिए ठीक नहीं हैं।'

मैंने तंग आकर कहा, 'तब आप क्या साबूदाना या खिचड़ी खाते हैं?'

वह बोले, 'यह भी नहीं खाता, डॉक्टर ने इन्हें खाने की अनुमति नहीं दी है।'

मुझे क्रोध आ गया; झुँझलाकर पूछा, 'तो क्या आप विष खाते हैं?'

यह है दुर्दशा इन बड़े-बड़े सेठों की! दो फुलके भी नहीं खा सकते ये! फिर सेठपन क्या हुआ? किस काम का है यह?

इन लोगों से पूछो कि इतना काम क्यों करते हो?

तो उत्तर देंगे—धन कमाने के लिए।

पूछो—धन क्यों कमाते हो?

तो उत्तर देंगे—खाना खाने के लिए।

पूछो—फिर खाते क्यों नहीं हो?

तो उत्तर देंगे—डॉक्टर ने निषेध कर दिया है।

तो फिर सीधी तरह से कहो कि डॉक्टर की फ़ीस देने के लिए कमाते हैं। इस कमाई का आखिर अभिप्राय क्या है ?

पिछले दिनों रणवीर ने मुझे एक व्यक्ति की बात सुनाई। कनॉट-प्लेस में वह मिस्त्री का काम करता था। मोटरों की मरम्मत करने-वाले एक गेराज में नौकर था। गर्मी की दोपहर में काम से थककर ज़मीन पर सो जाता था। जी-भर सोता था, जी-भर खाना खाता था, जी-भर काम करता था। उसका स्वास्थ्य देखकर लोग ईर्ष्या करते थे। तब वह दिल्ली से बम्बई चला गया। लौटकर आया तो एक दिन रणवीर को मिलने के लिए आ गया, ३५ हज़ार की मोटर में बैठ-कर, सूट-बूट पहने। रणवीर ने पहले तो पहचाना नहीं। ध्यान से देखा तो बोला, 'अरे ! तू वही मिस्त्री है जो मोटरों की मरम्मत करता था ?'

वह बोला, 'जी, हूँ तो वही। परन्तु अब मुझे मिस्त्री कोई नहीं कहता। सेठ जी कहते हैं सब लोग।'

रणवीर बोला, 'परन्तु तूने अपने स्वास्थ्य को क्या कर लिया ? लाल के स्थान पर पीला चेहरा···भीतर धँसी हुई आँखें···सब ओर झुरियाँ···इतना शीघ्र बूढ़ा कैसे हो गया ?'

वह बोला, 'क्या बताऊँ आपको ! बम्बई जाकर मैंने कई व्यापार किये, लाखों रुपये कमाये। अब मेरे पास अपनी तीन मोटरें हैं। अपने दो मकान हैं। एक बहुत बड़ा बँगला भी है, जिसका प्रत्येक कमरा सर्दियों में गर्म, गर्मियों में ठण्डा रहता है। बड़े-बड़े पलँग हैं। उनपर रबर के गद्दे हैं। प्रत्येक प्रकार का आराम है। परन्तु रबर के उन नर्म गद्दों पर भी नींद नहीं आती। दवाई खाकर थोड़ी देर सोता हूँ, नहीं तो नहीं। दो बरस बीत गये, भूख मर गई, नींद उड़ गई।'

रणवीर ने कहा, 'तुझे भी नींद नहीं आती जो जलती दोपहर में नंगी ज़मीन पर सो जाता था ? तुझे भी भूख नहीं लगती जो कितनी ही सूखी रोटियाँ अचार के साथ खा जाता था ?'

वह बोला, 'वह युग तो अब सपना बन गया। तब मैं निर्धन था। अब धनी हूँ।'

अब कोई बताए कि इस सम्पन्नता का लाभ क्या है ?

दिल्ली में एक सज्जन मुझसे मिले। बड़े ऊँचे सरकारी कर्मचारी थे। रिटायर्ड हो गए तो मुझसे बोले, 'अब कौन-सा धन्धा या कारोबार करूँ ? धन तो कमाना ही है।'

मैंने कहा, 'भाई, छोड़ दो अब धन्धे और कारोबार ! भगवान् के भजन में मन लगाओ ! सरकार ने तुम्हें रिटायर कर दिया; तुम अब भी धन्धे और कारोबार की बात सोच रहे हो ?'

परन्तु उन्हें मेरी बात पसन्द नहीं आई।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि ५०-६० वर्ष की आयु के पश्चात् आदमी को घर की चिन्ता, परिवार की चिन्ता, कारोबार की चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। घर न भी छोड़ा जाय तो घर में ही वानप्रस्थी बनकर रहना चाहिये। परन्तु यहाँ तो लोगों को अन्तिम साँस तक धन कमाने की चिन्ता ही चिमटी रहती है।

मैं यह नहीं कहता कि धन मत कमाओ, परन्तु कमाने के पश्चात् उसको जनता के कल्याण के लिए, भले के लिए व्यय कर दो। जहाँ पानी नहीं हो, वहाँ कुएँ बनवा दो ! जो ग़रीब हैं, उनकी सहायता करो ! जहाँ अस्पताल नहीं, वहाँ अस्पताल बनवा दो ! अनाथ बालकों के लिए आश्रम बनवाओ ! असहाय विधवाओं के लिए आश्रम बनवाओ; जिन बच्चों के पास स्कूली पुस्तकों के लिए भी रुपया नहीं है, उन्हें पुस्तकें लेकर दो ! उनके लिए छात्रवृत्तियाँ स्थापित करो ! ऐसे ही दूसरे भलाई के कामों में धन का व्यय करो ! जिस धन को तुम अपना समझकर बैठ गये हो, वह तुम्हारा नहीं है।

'कस्य स्विद् धनम् ?'—धन तो प्रजापति का है ! उनके अतिरिक्त किसी का है नहीं। यह भूमि प्रजापति की है, किसी दूसरे की नहीं है। धन कमानेवाले चले जाते हैं, धन को छीननेवाले चले जाते हैं; धन यहीं पर रह जाता है। धरती के लिए लड़नेवाला एक आदमी कहता है, 'यह ज़मीन मेरी है।' दूसरा कहता है, 'नहीं, मेरी है।' दोनों एक-दूसरे को मार डालते हैं। दोनों चले जाते हैं। धरती यहीं पड़ी रहती है जहाँ वह करोड़ों सदियों से पड़ी है। तब यह पृथिवी

किसकी है ?—केवल प्रजापति की है ।

एक था राजा । उसके महल से कुछ ही दूरी पर एक बुढ़िया रहती थी, छोटा-सा झोंपड़ा बनाकर । राजा को वह क्षेत्र पसन्द आ गया। उसने आज्ञा दी कि यहाँ पर बाग़ लगाया जाय और इस बाग़ को महल के साथ मिलाया जाय । राजा के सेवक पहुँचे वृद्धा स्त्री के पास । उससे बोले, 'यहाँ से चली जा । यहाँ राजा का बाग़ बनेगा ।'

वृद्धा स्त्री ने राजा से प्रार्थना की; कहा, 'महाराज ! मैं अधिक-से-अधिक वर्ष-दो-वर्ष और जी सकूँगी; तब आप यहाँ बाग़ लगवा लेना । अभी मेरी झोंपड़ी मत तुड़वाइये ! मैं निर्धन जीव जाऊँगी कहाँ ?'

महाराज ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी और बोले, 'बाग़ अवश्य बनेगा और अभी बनेगा; तुम कहीं भी चली जाओ ।'

और ग़रीब स्त्री अपना सामान एक गठरी में बाँध रोती-धोती चल पड़ी; रोती हुई जा रही थी कि सामने से आता हुआ एक साधु मिला । उसने पूछा, 'माँ ! तुम रोती क्यों हो ?'

वृद्धा देवी ने कहा, 'राजा ने मेरी भूमि छीन ली । वहाँ बाग़ बनवाएँगे, मेरी झोंपड़ी को तोड़ देंगे । मेरे पास रहने को स्थान नहीं है। मैं नहीं जानती अब क्या करूँ ?'

साधु बोला, 'रो मत ! आ मेरे साथ । मैं राजा के पास चलता हूँ ।'

वृद्धा देवी को साथ लेकर साधु पहुँचा राजा के पास; बोला, 'राजन् ! आपने इस वृद्धा स्त्री की भूमि छीन ली ?'

राजा बोला, 'हाँ, हमने बाग़ बनवाना है ।'

साधु बोला, 'हाँ, बात तो ठीक है ! अच्छा किया आपने । परन्तु इस बेचारी को अपनी भूमि से बहुत मोह है । इसे वहाँ से एक बोरी मिट्टी ले लेने दीजिये ।'

राजा ने कहा, 'इसमें कोई हानि नहीं है । इसे कहो—एक बोरी मिट्टी ले ले वहाँ से ।'

साधु उस स्त्री को लेकर राजा के साथ वहाँ पहुँचा । खोदी गई

मिट्टी; भर दी गई एक बड़ी बोरी में। साधु ने कहा, 'ले माँ! अब यह मिट्टी उठाकर ले जा।'

वृद्धा स्त्री ने बोरी को उठाने का प्रयत्न किया तो उससे वह हिली तक नहीं।

साधु ने राजा से कहा, 'यह स्त्री तो वृद्धा है, आप ही कुछ सहायता कीजिये इसकी। बोरी उठाकर इसके कन्धे पर रख दीजिये।'

राजा ने भी बोरी को उठाने का यत्न किया, परन्तु उसको ऊपर नहीं उठा सका; बोला, 'यह तो बहुत भारी है।'

साधु ने कहा, 'राजन्! यदि आप एक बोरी मिट्टी नहीं उठा सकते तो इस सारी भूमि को उठाकर कैसे ले जाएँगे?'

तब राजा की आँखें खुलीं—अरे! इस भूमि को उठाकर तो कभी कोई साथ नहीं ले गया, फिर इसका लोभ क्यों करते हो?

सिकन्दर के विषय में सुनाया है न मैंने पहले! वह भारत में आया तो उसने सुना कि यहाँ बहुत बड़े-बड़े योगी रहते हैं। एक योगी उसे बहुत प्यारा लगा। उसकी यह सेवा करने लगा। कई दिनों तक करता रहा। एक दिन योगी ने सोचा—यह सिकन्दर मेरी बहुत सेवा करता है; क्या चाहता है यह? इससे पूछना चाहिये।

और पूछा उसने, 'सिकन्दर! तुम्हारी इच्छा क्या है? तुम क्या चाहते हो?'

सिकन्दर ने जब यह देखा कि योगी प्रसन्न है तो हाथ जोड़कर बोला, 'योगिराज! यदि आप कृपा कर सकते हैं तो ऐसा कर दीजिये कि सारे भूमण्डल पर मेरा राज हो जाय।'

योगी ने कहा, 'मैं ऐसा भी कर सकता हूँ। मैं तुझे सारे भूमण्डल का राज्य दे दूँगा, परन्तु एक शर्त है मेरी। मेरा यह खप्पर है; इसे अनाज से भर दो!'

सिकन्दर ने कहा, 'अनाज से क्यों, योगिराज! आप मुझे सारे संसार का राज्य देंगे तो मैं आपके इस खप्पर को हीरे, मोती आदि रत्नों से भर दूंगा।'

और आदेश दिया उसने, 'ले आओ मेरे खजाने से सब हीरे, लाल,

माणिक्य, पुखराज, मोती ।'

आया यह सब-कुछ; बहुत बड़ा ढेर लग गया। सिकन्दर दोनों हाथों से उनको उठाता और खप्पर में डाल देता; उठाता, डाल देता; डालता गया, डालता गया; ढेर चुक गया, परन्तु खप्पर तो भरा नहीं।

सिकन्दर हाँफता हुआ बोला, 'यह कैसा खप्पर है? इतना बड़ा ढेर चुक गया और यह भरा ही नहीं ?'

योगी ने हँसते हुए कहा, 'यह मानुषी खोपड़ी है, सिकन्दर! यह कभी भरती नहीं; इसके लालच का कभी अन्त होता नहीं। सारे विश्व का राज्य लेकर भी तेरे लालच का अन्त नहीं होगा; तुझे चैन नहीं मिलेगा।'

इसीलिए उपनिषद् ने लिखा—

'न वित्तेन तोषणीयो मनुष्यः ।'

'धन-दौलत से मनुष्य की कभी तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं होती।' जिसके पास जितना है, वह उससे और अधिक चाहता है। धन का पानी वह पानी है कि जिसको जितना पीओ, उतनी ही प्यास बढ़ती है। इसके लालच का कहीं भी, कभी भी अन्त नहीं होता। इसलिए वेद भगवान् ने कहा—'**मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** !'—'लालच मत कर ! अपने धन का लालच भी मत कर, दूसरे के धन का तो कर ही नहीं।' अपितु यह सोच—'यह धन किसका है ?' तुमने व्यापार से धन कमाया हो, ठेकेदारी से कमाया हो, किसी भी प्रकार से कमाया हो; इसे अपना मत समझो ! अपने हाथ से दूसरों को दे दो, जिनको इसकी आवश्यकता है उनमें बाँट दो ! अपने बच्चों के लिए भी इसका संचय मत करो ! बच्चों को अच्छी शिक्षा अवश्य दो ! उन्हें बुद्धि दो, वैभव मत दो। मारवाड़ी भाषा में एक कहावत है—

'पूत सपूत, क्यों धन-संचय ? पूत कपूत, क्यों धन-संचय ?'

'यदि तुम्हारे पुत्र अच्छे हैं, सपूत हैं, तो फिर उनके लिए धन का संचय क्यों करते हो ? वे तो स्वयं ही कमा लेंगे। और यदि तुम्हारे पुत्र बुरे हैं, कपूत हैं, तो उनके लिए धन का क्यों संचय करते हो ? वे उसको पाप के मार्ग में व्यय कर देंगे; अधिक गहरे गढ़े में जा गिरेंगे।

बच्चों के लिए धन का संचय मत करो ! अपने जीते-जी इसको भले कामों में व्यय कर दो—धन का सही उपयोग यही है।

एक बात सुनाता हूँ—यहाँ दिल्ली की नहीं, एक अन्य स्थान की बात है। एक पर्याप्त समृद्ध सज्जन थे। जब बूढ़े हुए तो अधिकतर धन उन्होंने अपने बेटों में बाँट दिया। धन का एक अंश उन्होंने अपने घर की एक दीवार में गाड़ दिया और उसके ऊपर प्लस्तर करा दिया कि किसी को पता ही न चले। उनका विचार यह था कि इस धन से एक ट्रस्ट बना देंगे जिससे दु:खी और निर्धन जनता की सहायता हो सके। कई मित्रों से उन्होंने इस बात की चर्चा भी की, परन्तु सोचते ही रह गए और ट्रस्ट बना नहीं पाए। अन्तिम समय भी आ पहुँचा। जीभ बन्द, हाथ-पाँव चलते नहीं, केवल आँखें ही टुकर-टुकर देखती रहीं। मित्रों को पता लगा तो वे आए और बोले, 'आप ट्रस्ट बनाने की बात कहते थे न ? कहाँ है वह धन ? हम आपके नाम का ट्रस्ट बना देंगे।'

इस व्यक्ति ने आँखों से दीवार की ओर संकेत किया।

मित्र समझे नहीं; फिर बोले, 'हमें बता दो, वह धन कहाँ रक्खा है ?'

इस आदमी ने फिर दीवार की ओर देखा। इसके पुत्र भी समीप खड़े थे। उन्होंने वास्तविक बात समझ ली और तत्काल बोल उठे, 'कहते हैं कि सारा धन तो इस दीवार को बनाने में व्यय हो गया, अब धन है नहीं।'

मित्र निराश होकर पीछे हट गए। वह आदमी मर गया। जब सब लोग चले गए तो बेटों ने दीवार तोड़कर धन निकाल लिया।

इसलिये मैं कहता हूँ कि बच्चों के लिए मत छोड़ो कुछ भी। अपने कमाए धन को अपने जीते-जी नेक कार्यों में खर्च कर दो !

दिल्ली में आर्यसमाज अनारकली है न ? वहाँ एक पूज्या वृद्धा ने अपने नाम का एक कमरा बनवा देने का वचन दिया। मुझसे उसने कहा कि इसके लिए उसने छः हज़ार रुपया रक्खा हुआ है जिसे वह आर्यसमाज को दान कर देगी। एक दिन आर्यसमाज के पुरोहित जी के साथ मैं उनके घर गया। उनसे कहा, 'माता जी ! अब वह रुपया

दे दीजिये, जिससे मकान बनवाना आरम्भ हो जाय।'

वह बोली, 'रुपया बैंक में है; उसे निकलवाती हूँ। आप कल आकर ले जायँ।'

उसके समीप ही उसकी बेटी बैठी थी। वह बोली, 'परन्तु कल तो वह रुपया निकल नहीं सकता; वह तो फ़िक्स्ड डिपॉज़िट में पड़ा है।'

मैंने कहा, 'आप फ़िक्स्ड डिपॉज़िट की रसीद ही आर्यसमाज अनारकली के नाम कर दीजिये। अवधि की समाप्ति पर रुपया आर्यसमाज को मिल जायगा।'

परन्तु वह पुत्री महोदया तो मानी नहीं। पुरोहित जी कई बार उसके पास गए। प्रत्येक बार उसने यही कहा, अभी अवधि समाप्त नहीं हुई। इस पूजनीया वृद्धा का देहान्त हो गया, परन्तु बेटी ने रुपया नहीं दिया।

ऐसे ही होते हैं बेटे-बेटियाँ ! सब लोभी ! सम्बन्धी भी ऐसे ही होते हैं।

यह सब मैं आपको डराने के लिए नहीं कहता; वैराग्य का उपदेश देने के लिए भी नहीं कहता; वास्तविकता वर्णन करता हूँ।

सोचो कि यह धन किसका है ? प्रजापति का है; ईश्वर का है; या फिर उन लोगों का है जो प्रजा का पालन करते हैं, दूसरों का भला करते हैं, देश का प्रबन्ध करते हैं, जाति की रक्षा का प्रबन्ध करते हैं। कभी एक मनुष्य का यह धन है नहीं। इसीलिए वेद ने कहा—**'मा गृधः !'**—**'लालच मत करें !'** लालच पाप का कारण है। प्रत्येक प्रकार का पाप इस लालच से उत्पन्न होता है। प्रत्येक प्रकार के अत्याचार, दुराचार, भ्रष्टाचार इस लालच से होते हैं।

परन्तु लालच से अभिप्राय केवल धन का लालच ही नहीं है। शक्ति का लालच, शासन का लालच, स्त्री का लालच, कई प्रकार के लालच हैं और प्रत्येक लालच विनाश का मार्ग खोलता है।

मैं सोमनाथ गया सौराष्ट्र में। उस मन्दिर को देखा जिसको कभी महमूद ग़ज़नवी ने लूटा था और जिसे अब हमारी सरकार ने पर्याप्त धन लगाकर फिर से बनवाया है। वहाँ एक बहुत ही वृद्ध पण्डित जी

मिले। मैंने उनसे पूछा, "यह मन्दिर तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि बहुत बड़ा दुर्ग था कभी। फिर इस दुर्ग में प्रविष्ट होकर महमूद-ग़ज़नवी ने इसको कैसे लूटा?"

उन्होंने कहा, "बैठो मेरे पास, आपको पूरी कहानी सुनाता हूँ।" मैं बैठ गया तो वह बोले, "उस समय राजा भीम यहाँ राज करते थे। ग़ज़नवी ने आक्रमण किया। उसके साथ सेना बहुत अधिक थी। राजा भीम के पास थोड़ी थी। उन्होंने दुर्ग के भीतर अनाज आदि एकत्र कर ऐसी व्यवस्था की कि उनकी सेना का एक भाग दुर्ग के भीतर बैठकर शत्रु पर तीरों की वर्षा करे और दूसरा भाग दुर्ग से बाहर निकलकर शत्रु से लोहा ले। पहले दिन स्वयं राजा भीम अपनी सेना का संचालन करते हुए आगे बढ़े। इस प्रकार लड़े वह कि सन्ध्या-समय होते-होते ग़ज़नवी की सेना के छक्के छूट गये। उसके हज़ारों सैनिक मौत के घाट उतर गये। शेष सैनिकों में से कोई इधर भागा, कोई उधर। राजा भीम विजय-दुन्दुभि बजाते हुए दुर्ग में लौट आए।

रात्रि में ग़ज़नवी ने अपनी सेना को फिर एकत्र किया। उसको फिर से व्यवस्थित किया, जिससे दूसरे दिन भी अधिक ज़ोर से आक्रमण कर सके। परन्तु दूसरे दिन भी राजा भीम दुर्ग से बाहर आकर इस प्रकार लड़े कि ग़ज़नवी की सेना आगे नहीं बढ़ सकी। उसका उत्साह भंग हो गया। सायंकाल होने पर राजा भीम तुमुल जयघोष के मध्य दुर्ग में प्रविष्ट हुए।

दुर्ग के भीतर मन्दिर था। मन्दिर में देवदासियाँ नृत्य करती थीं। इन्हीं में एक अत्यन्त रूपवती देवदासी थी, चोला। मन्दिर के पुजारी का बेटा शिवदर्शी इसको बहुत चाहता था। वह भी शिवदर्शी को अपना नृत्य दिखाकर प्रसन्न होती थी। तीसरे दिन का युद्ध आरम्भ हुआ तो राजा भीम एक बार फिर बाहर निकले। दुर्ग की दीवारों पर से ग़ज़नवी की सेना पर तीर बरस रहे थे। दुर्ग के बाहर राजा उन्मत्त होकर लड़ रहे थे; जिधर वे जाते, उधर टोलियों-की-टोलियाँ साफ़ हो जाती थीं। इनकी तलवार बिजली के समान कौंध रही थी। दुर्ग के कई व्यक्ति दीवार पर से अपने राजा की इस वीरता को देख रहे थे।

इन्हीं व्यक्तियों में देवदासी चोला भी थी। उसने अपने राजा को इस प्रकार युद्ध करते देखा तो 'धन्य-धन्य' कह उठी।

सायंकाल हुआ। ग़ज़नवी की सेना को बहुत दूर तक खदेड़ देने के पश्चात् राजा भीम फिर दुर्ग में आ गये। उधर महमूद ग़ज़नवी ने जब यह अवस्था देखी तो उसने निश्चय किया कि 'वह वापस चला जायेगा। इस दुर्ग पर विजय प्राप्त करना उसके वश की बात नहीं है।'

राजा भीम दुर्ग के भीतर प्रविष्ट हुए तो सबसे आगे बढ़कर चोला ने उनका स्वागत किया। वह बोली, 'महाराज ! आप तो साक्षात् शिव हैं। आप इस प्रकार युद्ध कर रहे थे जैसे भगवान् रुद्र राक्षसों का विनाश करने के लिए ताण्डव कर रहे हों। बहुत प्यारे लगे आप मुझको !'

भीम ने हँसते हुए कहा, 'तुम भी बहुत प्यारी लगती हो, बहुत सुन्दर !'

चोला सिर झुकाकर बोली, 'मैं तो आपकी दासी हूँ; यह शरीर आपका है।'

और वे दोनों शेष लोगों के साथ आगे बढ़ गये। केवल शिवदर्शी वहाँ ठहरा रहा। उसने चोला और महाराज की बातें सुनी थीं। इन बातों से उसके हृदय में प्रतिद्वन्द्विता की आग भड़क उठी। उसकी चोला महाराज की हो जाय, यह उसे स्वीकार नहीं था। एक स्त्री के प्रेम में अन्धा होकर वह मन-ही-मन निश्चय कर बैठा, 'यह बात मैं होने नहीं दूंगा ! बस, अब राजा भीम ही नहीं रहेगा। जब राजा भीम ही नहीं रहेगा, तो चोला मेरी और केवल मेरी होगी।'

और इस अभागे को न देश का ध्यान आया, न जाति का।

रात्रि में उसने महमूद के पास अपना एक आदमी भेजा जो ग़ज़नवी लौट जाने की तैयारी कर रहा था। शिवदर्शी के आदमी ने उससे कहा, 'वापस जाने की आवश्यकता नहीं है, आप आज रात को आक्रमण कीजिये। मैं आपको दुर्ग का चोर दरवाज़ा बताऊँगा; शर्त केवल यह है कि आप दुर्ग को जीतें और राजा भीम की हत्या के पश्चात् शिवदर्शी को राजा बना दें।'

महमूद ग़ज़नवी ने सारी बात समझी; बोला, 'चलो दिखाओ चोर दरवाज़ा।'

उसकी सेना चुपचाप आगे बढ़ी और चोर दरवाज़े से भीतर प्रविष्ट हो गई। भीतर पहुँचकर उसने जो मार-काट मचाई, उससे राजा भीम की सेना आधी से भी कम रह गई। फिर भी वे लोग लड़े। ग़ज़नवी चोर दरवाज़े से ही बाहर चला गया। परन्तु वह यह विश्वास लेकर गया कि कल उसकी विजय होगी अवश्य! उसका विचार अनुचित नहीं था।

चौथे दिन युद्ध के लिए जब राजा भीम बाहर आए तब उनके साथ बहुत थोड़े-से सैनिक थे। दुर्ग की दीवारों से तीर चलानेवाले भी न होने के बराबर थे। दुर्ग के भीतर सैंकड़ों शव पड़े थे। राजा भीम लड़े अवश्य, परन्तु भग्न हृदय से। लड़ते-लड़ते युद्धक्षेत्र में उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिये। ग़ज़नवी की जीत हुई। वह दुर्ग में प्रविष्ट हुआ तो सामने शिवदर्शी हाथ उठाए खड़ा था। महमूद ग़ज़नवी को सलाम करके बोला, 'अमीर! मैं हूँ वह शिवदर्शी जिसने आपको विजय दिलाई है। अब शर्त पूरी कीजिये!'

महमूद ने तलवार उठाई और उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया।

यह है लालच का परिणाम!

यह लालच आज इस देश को मार रहा है। कुर्सियों का लालच, मन्त्री बनने का लालच, नेतागीरी का लालच, वैभव का लालच, कितने ही प्रकार के लालच यहाँ जाग उठे हैं। हम इस बात को भूले जा रहे हैं कि लालच पाप का बाप है; इससे सर्वनाश होता है।

परन्तु, लो जी! अब तो पौने दस बज गए। बहुत देर हो गई। इसलिए शेष बात कल सुनायेंगे। ओ३म् शम्!

□

दूसरा दिन

[स्वामी जी महाराज ने कथा आरम्भ करने से पूर्व, पहले दिन की ही भाँति लम्बी धुन और गुरु-गम्भीर-गर्जती हुई ध्वनि में 'ओ···३···म्' कहा। उस समय मानो यह एक शब्द ही पूरा गीत बन गया। उस मधुर आध्यात्मिक संगीत के विशाल सागर में, जिसमें सुन्दर और सुरूप लहरें उठती हों, और जहाँ सुदूर उस स्थान पर जहाँ पृथिवी तथा आकाश मिलते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा और परमात्मा मिलकर एक हो गए हों। और पूज्य स्वामी जी ने कहा—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

कल मैं आपको बता रहा था कि आज के युग में संसार के लोगों ने समुचित जीवन-यापन के लिए धन को ही एकमात्र सबसे बड़ा साधन समझ लिया है। हमारी पंजाबी भाषा में कहा भी तो है—

'जिहदे घर दाने, ओहदे कमले वी स्याने'

'जिसके घर में धन-वैभव है, उसके पागलों को भी बुद्धिमान् कहा जाता है।' अद्भुत है यह पैसे का प्यार ! जैसे आकाश में सूरज, चाँद और तारे घूमते हैं, जैसे हमारी यह पृथिवी ६६ हज़ार मील प्रतिघंटा की चाल से घूमती है, ऐसे ही आज के मानव के मस्तिष्क में पैसा घूमता है।

मैं मानता हूँ कि पैसे के बिना, धन और वैभव के बिना दुनिया में काम नहीं चलता। वेद ने धन कमाने का निषेध नहीं किया। अथर्ववेद में तो एक पूरा सूक्त ही धन के लिए प्रार्थना के विषय में लिख दिया गया है। परन्तु आज तो धन को ही सब-कुछ समझ लिया गया है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, सबको धन की दृष्टि से देखा जाता है कि इनसे धन कितना मिलता है। पैसा मिले तो पिता अच्छा है,

पत्नी अच्छी है, भाई तथा बहन भी अच्छे हैं; न मिले तो सब बुरे। एक यही बात समझ ली है हमने कि किसी भी भाँति रुपया प्राप्त करना चाहिये, किसी भी विधि से धन कमाना चाहिए।

देखो भाई! धन कमाओ अवश्य, मैं इसकी निन्दा नहीं करता।

और यदि मैं कहूँ कि धन मत कमाओ तो मेरी सुनेगा कौन? लोग कहेंगे—'आनन्द स्वामी स्वयं तो साधु हो गया है, हमें भी भिखारी बनाना चाहता है।' मैं जानता हूँ कि किसी ने यह बात माननी नहीं, इसलिए कहता भी नहीं। यह कहता हूँ कि 'धन कमाओ, भाई! खूब कमाओ! पर मत भूलो कि किसी भी बात की अति हो जाय तो बुराई उत्पन्न हो जाती है। आजकल सबसे अधिक अमीर देश है अमेरिका। वहाँ जो दशा हो रही है, उसको हम प्रायः नहीं जानते। परन्तु वहाँ है एक 'क्रिश्चियन सोसाइटी'। इसकी पत्रिका मेरे पास आती है। यह पत्रिका साप्ताहिक है, नाम है इसका 'अवेक' (Awake अर्थात् 'जागो')। प्रति सप्ताह इसकी ५६ लाख प्रतियाँ छपती हैं। इसने वहाँ की दशा का उल्लेख करते हुए कुछ बातें लिखीं; कुछ आँकड़े दिये। कुछ बातें लिखीं उन लोगों के विषय में जिन्हें 'हिप्पी' कहा जाता है। हमारे देश में भी तो घूमते हैं ये हिप्पी! फटा हुआ पाजामा; टूटा हुआ जूता; बालों में कंघी नहीं; तेल नहीं; कई-कई सप्ताह तक नहाते नहीं; चरस-भाँग-सुलफ़ा पीते हैं; भिखारियों की भाँति दुर्दशा-ग्रस्त अवस्था में घूमते-फिरते हैं। इनमें से अधिकतर लखपति माँ-बाप के बेटे-बेटियाँ हैं। अमीरी से ऊब गए हैं, इसलिए ग़रीबी की गोद में पहुँच गए। अद्भुत प्रकार की सन्तति है यह!

परन्तु स्मरण रक्खो, यदि भारतवर्ष में भी अमेरिका की भाँति बहुत अधिक वैभव हो गया तो यहाँ भी यही बात होगी। यहाँ भी 'हिप्पी' जाग उठेंगे। कोई भी बात जब 'अति' पर पहुँच जाती है तो इसकी प्रतिक्रिया होती है अवश्य—यह प्रकृति का सिद्धान्त है। अमेरिका हो या भारत, कोई भी इस सिद्धान्त को बदल नहीं सकता। इसीलिए योगशास्त्र ने शांति और चैन का मार्ग बताते हुए 'अपरिग्रह' की चर्चा की है। इसका अर्थ यह है कि आवश्यकता से अधिक का संग्रह न

करना; जितनी आवश्यकता है उससे अधिक एकत्र करने का प्रयत्न न करना।

अब देखिये, आवश्यकता तो है दस कुर्तों की और यदि आप सब ट्रंक कुर्तों से भर लें तो इससे होगा क्या ? आवश्यकता है पाँच साड़ियों की; यदि आप साड़ियों के पाँच ट्रंक भर लें तो इसका परिणाम क्या होगा ? जितनी आवश्यकता है, उतना ही संग्रह करो। दस कुर्तों से काम चलता है तो दस ट्रंक मत भरो ! पाँच साड़ियों से काम चलता है तो पचास साड़ियों का संग्रह मत करो !

कपड़ा बेचनेवाले कोई दुकानदार सज्जन बैठे होंगे तो वे सोचते होंगे कि 'यह आनन्द स्वामी तो हमारा व्यापार चौपट करने आया है।' परन्तु चिन्ता मत करो, यदि मैं कह भी दूं, तो भी मेरी बात कोई मानेगा नहीं। ये टैरिलीन पहननेवाली देवियाँ हैं न ? इन्हें पता लगने दो कि अमुक स्थान पर टैरिलीन के नए डिज़ाइन आए हैं, ये सब-की-सब वहाँ पहुँच जाएँगी और मेरी कोई भी सुनेगा नहीं।

पिछले जनवरी महीने में मैं मद्रास नगर में था। वहाँ ज्ञात हुआ कि जापान का बहुत-सा माल वहाँ चुंगी आदि छिपाकर लाया जाता है; कपड़ा भी आता है; साड़ियाँ भी और यह भी पता लगा कि इस छिपाकर लाए गए माल को खरीदने वहाँ अमृतसर, जलन्धर तथा अन्य कितने ही नगरों से धनी लोग आते हैं, विशेषतया ऐसे आदमी आते हैं कि जिन्हें अपने बच्चों के विवाह करने होते हैं। टैरिलीन की साड़ियाँ खरीदने वे डेढ़ हज़ार मील दूरी पर पहुँच जाते हैं।

[किसी भाई ने कहा, 'टैरिलीन की नहीं, स्वामी जी, नाइलोन की साड़ियाँ।' और स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—]

हाँ भाई, नाइलोन ही होगा। मुझे क्या पता ! मैं न तो साड़ियाँ पहनता हूँ और न 'स्मगल' किया हुआ माल खरीदता हूँ। नाइलोन की साड़ियाँ और दूसरा माल खरीदने ये लोग मद्रास पहुँच जाते हैं। देश को भी हानि पहुँचाते हैं, अपने-आपको भी हानि पहुँचाते हैं। अवैध कार्यवाही करते हैं। यह सब-कुछ इसी कारण कि 'अपरिग्रह' का

सिद्धान्त इन्होंने नहीं समझा। वे भूल गए हैं कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करने से सुख नहीं होता; चैन नहीं मिलता।

परन्तु मैं आपको अमेरिका की बात सुना रहा था। जिस पत्रिका की मैंने चर्चा की है, वह कहती है कि 'अमेरिका में अब लोग घरों से, पारिवारिक जीवन से अपना ध्यान हटाते जा रहे हैं; वे धर्म की भी चिन्ता नहीं करते; कारण यह है कि धर्म निर्धनों के लिए है, अमीरों के लिए है नहीं।' इस पत्रिका के एक लेख का शीर्षक है—'क्या धर्म का लोगों पर प्रभाव कम होता जा रहा है?' इस लेख में लिखा है कि १९५७ में चौदह प्रतिशत व्यक्ति धर्म से विमुख थे; १९६२ में ३१ प्रतिशत और १९६७ में इनकी संख्या ४५ प्रतिशत हो गई। अब १९६९ में इनकी संख्या शायद ५५ प्रतिशत हो गई हो। यह सब क्यों हो रहा है? इस कारण कि वैभव की मात्रा वहाँ बहुत बढ़ गई है।

इसी पत्रिका ने बताया है कि अमेरिका में जितने अस्पताल हैं और उनमें जितने रोगी हैं, उनमें से आधे मस्तिष्क-रोगों, अर्थात् पागलपन से ग्रस्त हैं। इस पागलपन का कारण है, वैभव का आवश्यकता से अधिक संचय हो जाना। वैभव अधिक है; इस कारण लोग प्रत्येक प्रकार की ग़लत बातें करते हैं। मद्य-सेवन में, कुकर्मों में, ऐसी ही दूसरी बातों में सुख और चैन को खोजते हैं। वह मिलता नहीं तो मस्तिष्क-रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। इसी पत्रिका ने बताया कि सन् १९६६ में, केवल एक वर्ष के भीतर, अमेरिका के लोग साढ़े सात अरब डॉलर अर्थात् ६० अरब रुपये की शराब पी गए! इसी पत्रिका ने यह भी लिखा है कि अमेरिका में जुआ, व्यभिचार, डाके तथा हत्याओं की घटनाएँ लगातार बढ़ती जा रही हैं। एक पादरी महोदय ने बताया कि गिरजाघरों और धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव लगातार घटता जा रहा है। ये गिरजाघर और धार्मिक संस्थाएँ मरती हुई संस्थाएँ बनी जा रही हैं। कारण यह है कि लोगों के पास धन-वैभव अधिक है और उन्हें धर्म की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। इसी पत्रिका ने बताया है कि अमेरिका में बड़ी दुकानों की चोरियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। १९६६ में केवल एक वर्ष के भीतर ही वहाँ की दुकानों

से पाँच अरब डॉलर, अर्थात् चालीस अरब रुपये का माल चुराया गया। यदि सभ्यता और वैभव-शालिता इसी का नाम है तो सोचकर बताइये कि पतन तथा विनाश किसको कहेंगे ? इस पत्रिका की सूचना के अनुसार सन् १९६६ में तेरह करोड़ व्यक्ति डॉक्टरों के पास गए, डॉक्टरों ने उनके लिए एक अरब नुस्खे लिखे। इन नुस्खों में लिखी दवाओं के मूल्यों का सर्वयोग साढ़े तीन अरब डॉलर, अर्थात् छब्बीस अरब रुपये था। अब बताइये कि यह अमीरी अमेरिका को कहाँ ले-जा रही है ?

इस पत्रिका ने न्यूयॉर्क में स्थित एक होटल की चर्चा की है। इस होटल का नाम **'न्यूयॉर्क न्यू अमेरिकन होटल'** है। यह होटल वैसे ही लखपतियों तथा करोड़पतियों के ठहरने के लिए बना है जैसे दिल्ली का 'अशोक होटल'। निर्धन व्यक्ति तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते; लखपति तथा करोड़पति ही वहाँ ठहरते हैं। पिछले दस महीनों में उस होटल से ३८ हज़ार डॉलर मूल्य के चाँदी के चम्मच चुराये गए; ३५५ कॉफ़ी की केतलियाँ चोरी गईं; १५००० डॉलर मूल्य के चाँदी के दूसरे बर्तन चुराए गए। स्पष्ट है कि किसी ग़रीब ने ये वस्तुएँ नहीं चुराईं; करोड़पति तथा लखपति ही उन्हें उठाकर ले गये जो उस होटल में ठहरते हैं। प्रश्न यह है कि यह अवस्था हुई तो हुई क्यों ? इस कारण कि अमेरिका में वैभव की अति हो गई है; वैभव को वहाँ ईश्वर समझ लिया गया है।

इसी पत्रिका ने एक अन्य रोचक बात बताई है और वह यह कि अमेरिका में प्रत्येक मिनट में एक तलाक़ होता है। पत्नी को पति पसन्द नहीं, पति को पत्नी रुचिकर नहीं, तो न्यायाधीश निर्णय करता है कि दोनों का विवाह समाप्त। ऐसे व्यक्तियों की संख्या प्रतिवर्ष ५,३५,६०० तक पहुँच जाती है। जिस देश के पारिवारिक जीवन की यह दशा हो, उसको सुखी कौन कह सकता है ?

फिर इसी पत्रिका में 'लॉयन क्लब' की 'लाइफ़' नामक पत्रिका से एक उद्धरण दिया गया है। इस उद्धरण के अनुसार, अमेरिका में अधिकतर परिवार ऐसे हैं कि जिनमें पति की अपनी क्लब है, पत्नी के अपने आमन्त्रित फ्रेंड हैं और दोनों के कारण संतति बर्बाद हुई जाती है।

परन्तु यह अवस्था उत्पन्न हुई तो क्यों हुई? इस कारण कि अमेरिका में वैभव की पूजा को सबसे बड़ी पूजा समझ लिया गया है और वैभव को ही सबसे बड़ा देवता। इसी हेतु मैं कहता हूँ कि धन कमाओ तो अवश्य, परन्तु सीमा के भीतर रहकर कमाओ। नहीं तो स्मरण रहे, तुम्हारे बच्चे भी बिगड़ जाएँगे! इस देश में भी वही अवस्था हो जायेगी जो अमेरिका में तथा इसी प्रकार के अन्य देशों में हो रही है। इस बात को भी स्मरण रक्खो कि कितना भी कमाया हुआ धन क्यों न हो, वह तीन पीढ़ियों के पश्चात् रहता नहीं है। फिर क्यों इस विपदा को मोल लेते हो? क्यों हेराफेरी करके 'आय-कर' से बचने का यत्न करते हो?

एक भाई ने मुझसे कहा, 'स्वामी जी! यदि आय-कर से बचने का यत्न न करें तो आपको खिलाएँ कहाँ से?'

मैंने हँसते हुए कहा, 'इतना तो मैं खाता नहीं कि मेरे लिए हेरा-फेरी करनी पड़े; पर यदि मेरे लिए ही करते हो तो मत करो, भाई! मैं तुम्हारे यहाँ खाना छोड़ दूँगा; तुम अपने यहाँ हेरा-फेरी करना छोड़ दो!'

मैं जानता हूँ कि व्यक्ति के पास धन-वैभव हो जाय तो एक प्रकार का मद चढ़ जाता है। तुलसीदास जी ने कहा है—

ऐसा को जन्म्यो जग माहीं।
प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं॥

'ऐसा कौन है इस संसार में जिसको धन-वैभव, सम्पत्ति, शक्ति और अधिकार मिल जाने पर मद नहीं चढ़ जाता!' चढ़ता है भाई! धन वस्तु ही ऐसी है। इसीलिए एक हिन्दी कवि ने कहा है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाए बौराय॥

'कनक' कहते हैं धतूरे को; और सोने को भी 'कनक' कहते हैं। कवि कहता है कि 'सोने में धतूरे से सौ गुणा अधिक नशा होता है। और इसका प्रमाण यह है कि धतूरे को तो खाने से मनुष्य को नशा

होता है, परन्तु सोने को तो पाने से ही, प्राप्त करने मात्र से, नशा चढ़ने लगता है।'

होता है उन्माद—मैं मानता हूँ। मैं जब छोटा था तो सुना था कि एक आदमी की कमर पर यदि एक हज़ार रुपये बँधे हों तो उसको एक बोतल का नशा हो जाता है। अब रुपये का मोल कम हो गया है तो हज़ार रुपये कमर पर बँधे होने पर शायद एक पैसा का नशा होता होगा। परन्तु होता अवश्य है। जिनको यह नशा होता है उनमें से कुछ तो धन का ठीक उपयोग करते हैं—ग़रीबों की सहायता, दीन-दुःखियों की पीड़ा दूर करने का यत्न, देश और जाति को बलिष्ठ बनाने का यत्न आदि भले कामों में धन को व्यय करते हैं। इससे उन्हें भी सुख होता है और दूसरों को भी। परन्तु साधारणतया लोग क्या करते हैं, यह तो आपको पता ही है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस देश के वैभव में वस्तुतः बहुत वढ़ोतरी हुई है। कितने ही नए लोग लखपति और करोड़पति हो गये हैं। लाहौर में एक आदमी अनारकली के भीतर एक मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठकर खिच्चड़-चने बेचा करता था। कठिनाई से उसका निर्वाह होता था। यह वरसों पहले की बात है। यहाँ दिल्ली में एक दिन वह मुझे मिला। उसने नमस्ते की। मैंने पहचानकर कहा, 'अरे! तू तो चने बेचता था न लाहौर में?'

वह बोला, 'जी, अब भी चने ही बेचता हूँ।'

मैंने पूछा, 'कैसा चलता है काम?'

वह बोला, 'बहुत आनन्द में हूँ। तीन कोठियाँ खरीद ली हैं। तीन सौ रुपये के चने प्रतिदिन बिक जाते हैं।'

मैंने कहा, 'फिर इस दौलत का करता क्या है?'

वह बोला, 'सायं समय खूब पीता हूँ; आनन्द आ जाता है।'

धिक्-धिक्! वह आनन्द क्या, जो कुछ घण्टों के पश्चात् समाप्त हो जाय और कुछ घण्टों के पश्चात् आदमी को अधिक दुःखी बना दे!

परन्तु अब तो इस आनन्द की इतनी ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं कि जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले हमारी

माताएँ, वहनें और वेटियाँ शराव नहीं पीती थीं; अव उनमें से भी कितनी ही पीने लगी हैं। जो नहीं पीते उनके सम्वन्ध में कहा जाता है कि वे सोसाइटी में जाने योग्य नहीं हैं।

लोग कहते हैं कि भारत ग़रीव हो गया है। अरे भाई! ग़रीव हुआ तो ये लाखों मोटरें कहाँ से आ गईं? ये वड़े-वड़े भव्य मकान, यह तड़क-भड़क की वेश-भूषा, ये सव क्या ग़रीवी के प्रतीक हैं? सत्य यह है कि इस देश में धन की वढ़ोतरी हुई है और इसके साथ ही धन का ग़लत उपयोग भी वढ़ा है। लोग शराव पीने लगे हैं; ग़लत काम करने लगे हैं।

धन को उर्दू भाषा में 'दौलत' कहते हैं। पंजावी में दो-लत का अर्थ है—दो लातें। इस दौलत की वस्तुतः दो लातें हैं। यह आती है तो मनुष्य के वक्षःस्थल पर लात मारती है और वह इस प्रकार अकड़ जाता है कि नीचे देख नहीं पाता। इसका आना भी वुरा है और जाना भी वुरा है। इसका सीमा में रहना ही उचित है। कहा भी तो जाता है—

साईं इतना दीजिये, जा में कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

इतने ही धन की आवश्यकता है मनुष्य को। फिर क्यों अधिक कमाते हो भाई? क्यों अपना स्वास्थ्य भी विगाड़ते हो और अपने लिए आपत्ति भी वुलाते हो? किसी को रक्त-दाव का रोग है तो किसी को मधुमेह का; किसी को हृदय का रोग है तो किसी को यकृत का। क्यों हर घड़ी अपने मस्तिष्क में तनाव उत्पन्न किये रखते हो? पहले धन कमाओ, फिर इसके लिए भाग-दौड़ करो, फिर आयकर-वालों से वचने के लिए भागदौड़ करो; फिर धन-वैभव को सुरक्षित रखने की चिन्ता करो और इस चिन्ता के कारण नित-नये रोगों में फँसो!

हम पंजाब में थे तो मुलतान के विषय में कहा करते थे—**'चार चीजस्त तोहफ़ए मुलतान, गर्द, गर्मा, गदा व गोरस्तान'** अर्थात् मुलतान

में चार वस्तुओं की बहुतायत है—धूल, गर्मी, भिखारी और कब्रिस्तान। अब दिल्ली में ऐसा प्रतीत होता है कि—

चार चीज़स्त तोहफ़ए दिल्ली,
नज़ला, खाँसी, बुख़ार व तिल्ली।

और यह सब होता क्यों है ? उसी मस्तिष्क-सम्बन्धी तनाव के कारण कि जो मनुष्य में धन को कमाने व उसको बचाने के कारण उत्पन्न होता है। यह तनाव जितना अधिक बढ़ेगा, रोग भी उतने ही अधिक उत्पन्न होंगे। धन तो अवश्य हो जायेगा, पर प्रसन्नता नहीं होगी।

उस सेठ की कहानी आपने कई बार सुनी होगी जिसके पड़ोस में एक ग़रीब श्रमशील मज़दूर रहता था। सेठ रहता था हर घड़ी चिन्ता में; और यह मज़दूर इतना प्रसन्न रहता था कि मानो प्रसन्नता का समुद्र उसके चारों ओर लहरा रहा हो। वह दिन-भर मज़दूरी करके बड़ी कठिनाई से चार-पाँच रुपये कमा पाता था। परन्तु प्रातः-सायं उसके घर में एक-दो सब्ज़ियाँ बनती थीं; रोटियाँ बनती थीं; कभी-कभी हलवा भी बनता था। वह, उसके बच्चे और उसकी पत्नी जी भरकर खाते थे। सायं-समय सब मिलकर प्रभु का कीर्तन करते थे। कोई थाली बजाता था, कोई तश्तरी, कोई ग्लास, कोई लोटा; खूब हँसते थे, खूब प्रसन्न होते थे वे।

एक दिन सेठ की पत्नी ने कहा, 'सेठ जी ! धन हमारे पास है और प्रसन्नता हमारे पड़ोसी के पास; इसका कारण क्या है ? वे गाते हैं, बजाते हैं, अच्छा खाना खाते हैं; कभी हलवे की भी सुगन्ध आती है मुझे, कभी-कभी खीर खाते हुए भी देखती हूँ उन्हें; और इधर हमारे घर में हर घड़ी चुप्पी और हर घड़ी चिन्ता ?'

सेठ ने सोचते हुए कहा, 'ऐसा लगता है, सेठानी, कि वे लोग कभी निन्यानवे के फेर में नहीं पड़े। मैं तुझे इस रूमाल में बाँधकर ९९ रुपये देता हूँ। तू इन्हें किसी प्रकार उनके घर में पहुँचा दे।'

सेठानी ने रूमाल में बँधे रुपये लिये और सबकी दृष्टि बचाकर मज़दूर के आँगन में फैंक दिये। दूसरे दिन मज़दूर की पत्नी झाड़ू देने

लगी तो उसको वह पोटली मिली। उसने वह उठाकर एक ओर रख दी। सायं-समय जब मज़दूर घर आया तो उससे बोली, 'यह एक पोटली यहाँ मिली है; न जाने इसमें क्या है ?'

मज़दूर ने वह खोली; देखा—रुपये हैं, चाँदी के रुपये ! एक-एक करके उन्हें गिना। फिर अन्तिम रुपये को नीचे रखते समय उदासी के-से स्वर में बोला, 'ये तो निन्यानवे हैं। एक सौ होते तो अच्छा होता।' और तब उसने सोचते हुए कहा, 'देखो भागवान ! तुम प्रतिदिन दो सब्ज़ियाँ बनाती हो, कल से एक बनाया करो जिससे एक रुपया बचाकर इन्हें पूरा एक सौ कर दूँ।'

लो जी ! दूसरे दिन से एक सब्ज़ी बनने लगी। रुपये निन्यानवे के स्थान पर अब १०५ हो गए। मज़दूर ने फिर उन्हें गिना और बोला, 'ये अधिक भी तो हो सकते हैं। भागवान ! तुम सब्ज़ियों के चक्कर को ही समाप्त कर दो। हम दाल से ही अपना काम चला लेंगे।'

और चलने लगा अब दाल से ही काम। रुपये ११० हो गये।

तब घी कम हुआ और रुपये हो गये १२०।

तब किसी ने उस मज़दूर को बताया कि नगर के परले हिस्से में रुपये को ब्याज़ पर दे दो तो सौ रुपये का एक रुपया प्रतिदिन ब्याज़ मिलता है। उसने रुपये ब्याज़ पर दे दिये। अब तो उसको दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं। खीर बन्द; हलवा बन्द; सायं-समय का कीर्त्तन भी बन्द !

कुछ महीनों के पश्चात् सेठ ने सेठानी से पूछा, 'अब पड़ोसियों का क्या हाल है ?'

सेठानी ने कहा, 'अब तो बुरा हाल है ! हलवे की सुगन्ध नहीं है; खीर का नाम नहीं; रूखी रोटी खाते हैं; मौन पड़े रहते हैं; कीर्त्तन भी बन्द हो गया है।'

सेठ ने कहा, 'यह है निन्यानवे का फेर ! जो इसमें पड़ता है उसकी यही दशा हो जाती है।'

और आज तो यह सारा संसार ही निन्यानवे के फेर में पड़ा हुआ

है, किसी को चैन नहीं; अमेरिका को नहीं; रूस को नहीं; भारत को नहीं; जापान को नहीं; किसी को नहीं। यह निन्यानवे का फेर ही ऐसा है किसी को चैन से बैठने ही नहीं देता। लोभ ऐसी मुसीबत है कि एक बार इसके सामने झुक जाओ तो फिर यह दबाता ही चला जाता है। यह तृष्णा इतनी भयानक है कि जो कोई इस चुड़ैल के चंगुल में फँसा, उसका सब-कुछ जाता रहा। भर्तृहरि ने कहा तो था—

'तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा।'

'यह तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती, पूरी नहीं होती; मनुष्य ही बूढ़ा होकर मर जाता है; पूरा हो जाता है।' यह वह प्यास है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जिसे कोई पानी बुझा नहीं सकता। वेद भगवान् ने बताया भी तो है—

अपां मध्ये तस्थि वासं तृष्णा विनक्त जरितारं मृधा सुक्षत्र मृळय।'

'एक अथाह पानी में खड़ा हूँ और प्यास से मरा जाता हूँ, जला जाता हूँ। किस वस्तु की प्यास है यह? तृष्णा की प्यास! हे भगवान्! तू ही कृपा करके मुझे बचा; इससे मेरी रक्षा कर!'

कैसी भयानक प्यास है यह! गंगा के निर्मल नीर में खड़ा है और प्यासा है! ऐसी प्यास है यह कि जिसको लग जाय, उसको न दिन में चैन मिलता है, न रात में नींद आती है। कभी सो जाय तो स्वप्न भी उसको इस प्यास के ही आते हैं। यहाँ की बात नहीं, किसी दूसरे नगर की है। एक व्यापारी था वहाँ। कपड़े की दुकान करता था। भोर में प्रातःकाल से, रात तारे निकलने तक काम में जुटा रहता। दौलत, दौलत, दौलत! इसके अतिरिक्त उसको कुछ सूझता ही नहीं था। एक बार नींद में उसने स्वप्न देखा कि वह दुकान पर बैठा है। एक ग्राहक ने एक कपड़ा उठाया है और उसका मूल्य पूछ रहा है।

व्यापारी ने कहा, 'मूल्य तो पाँच रुपये गज़ है।'

ग्राहक बोला, 'यह तो बहुत अधिक है। पिछली बार मैंने ढाई रुपये गज़ में यह कपड़ा खरीदा था; अब तीन रुपये गज़ होगा इसका मूल्य। इससे अधिक कैसे हो सकता है?'

व्यापारी ने कहा, 'नहीं भाई, मूल्य तो यही है।'

ग्राहक बोला, 'तो रहने दो। मैं किसी दूसरी दुकान पर पूछ लूँगा।'

और ग्राहक जाने लगा तो व्यापारी ने कहा, 'अच्छा, चार रुपये में ले जाओ।'

ग्राहक बोला, 'साढ़े तीन रुपये दूँगा।'

अन्त में सौदा हो गया पौने चार रुपये में। ग्राहक की आवश्यकता के अनुसार व्यापारी तीन गज़ कपड़ा नापने लगा—एक गज़, दो गज़, तीन गज़, और फिर दोनों हाथों से कपड़ा फाड़ दिया।

कपड़ा फाड़ने की आवाज़ से उसकी नींद खुल गई। देखा, न दुकान है, न ग्राहक। वह अपनी खाट पर है और अपनी ही धोती उसने फाड़ डाली है।

यह है तृष्णा की सनक! अँगरेज़ी में इसे 'क्रेविंग' (Craving) कहते हैं। यह एक बार जिसको चिमट जाती है, आदमी स्वयं मिट जाय तो भले ही मिट जाय, पर यह कभी नहीं मिटती। इसे तो अपने वश में रखना चाहिए। परन्तु आज के संसार ने इसको अपने वश में नहीं रक्खा। प्रत्येक मनुष्य ने यही समझ रक्खा है कि दौलत से ही चैन मिलता है। कई तो इतने वैभवशाली हो गये कि उन्हें अपनी दैनिक आय की गिनती तक ज्ञात नहीं और कई इतने कंगाल कि खाने को रोटी तक नहीं! अमेरिका के हेनरी फ़ोर्ड थे न? कहते हैं कि उनके अधिकार में इतना धन था, इतने कारखाने थे, इतनी कम्पनियाँ थीं कि अपनी आय की गिनती उन्हें स्वयं भी ज्ञात नहीं होती थी। वैभव का एक ऐसा नद उमड़ा चला आता था कि जिसके सब किनारे टूट चुके हों, बाँध टूट गये हों। परन्तु फ़ोर्ड महोदय की दशा क्या थी? स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजनों से भरे कमरे हैं। वे कहीं जाते तो विविध प्रकार के भोजन वहाँ होते; परन्तु वे रोगी थे अतः कुछ खा नहीं सकते थे। यही शंका बनी रहती कि किसी वस्तु में विष न मिला हुआ हो। अपने स्नानगृह में जाते स्नान के लिए; नीले पानी का सुन्दर तालाब सामने होता, परन्तु उसमें पाँव नहीं रख सकते थे;

शंका रहती थी कि किसी ने पानी में विष न मिला दिया हो। अपनी सुन्दर मोटर गाड़ी में सैर के लिए बाहर निकलते; परन्तु सिर उठाकर ऊपर नहीं देख पाते थे कि कहीं कोई गोली न मार दे !

क्या लाभ हुआ इस धन के होने का ? क्यों इसके लिए इतना यत्न करते हो ? क्यों इस मुसीबत को खरीदने का प्रयास करते हो ?

'भाड़ में जाय वह सोना, जिससे टूटे कान।'

ऐसे सोने को लेकर करोगे क्या जो तुम्हारे लिए आपत्ति बन जाय ? न जी भरकर खाने दे, न जी भरकर नहाने दे, खुली वायु से भी वंचित कर दे, ऐसे धन से क्या लाभ ?

और आज इस दौलत के आधार पर दो 'इज़्म' (वाद) संसार में विद्यमान हैं। एक को कहते हैं 'कैपिटेलिज़्म' अर्थात् पूँजीवाद और दूसरे को कहते हैं 'कम्युनिज़्म' अर्थात् साम्यवाद। सचाई यह है कि दोनों ग़लत मार्ग हैं। ठीक तो है वह मार्ग, जो दोनों के बीच से होकर जाता है। धन भी ठीक है और उसको आपस में बाँटकर खाना भी ठीक है। परन्तु दोनों ही के विषय में 'अति' करना बुरा है। इस 'अति' से ही ये 'इज़्म' उत्पन्न होते हैं। कम्युनिस्टों में नक्सलवादी जाग उठते हैं और चारों ओर विनाश जगाने लगते हैं। अब देखिये, बंगाल में क्या हो रहा है ? पिछले दिनों मैं कलकत्ता में था तो एक देवी ने मुझे अपनी वात सुनाई। वह फल खरीदने के लिए एक बाज़ार में गई। फलों की दुकान पर पहुँची। पन्द्रह रुपये के फल लिये और दुकानदार को सौ रुपये का नोट दिया कि शेष रुपये लौटा दे। दुकानदार रुपये गिनने लगा तो पाँच-छः नवयुवक वहाँ पहुँच गए; बोले, 'गिनने की आवश्यकता नहीं है; हम स्वयं गिन लेंगे।' और रुपयों के साथ फलों को भी उठाकर वे चले गए।

यह साम्यवाद नहीं, डाका डालना है; और डाका कोई भी डाले, वह ग़लत है।

परन्तु जैसे वह बात ग़लत है, वैसे ही यह वात भी ग़लत है कि मनुष्य लोभ तथा अहंकार में फँसकर दूसरे मनुष्यों को मनुष्य समझना ही बन्द कर दे; यह भी भूल जाय कि वे भी मनुष्य हैं, इन्हें भी इस

संसार में जीवित रहना है। दौलत की यह पूजा, दौलत के पीछे पागलों की भाँति भागे फिरना निपट बुराइयों को उत्पन्न करना है; भलाई को कभी उत्पन्न नहीं करता। संस्कृत के एक कवि ने भी कहा है—

द्रव्येन जायते कामः क्रोधो द्रव्येन जायते।
द्रव्येन जायते लोभो मोहो द्रव्येन जायते॥

'दौलत से कामवासना उत्पन्न होती है; क्रोध उत्पन्न होता है; लोभ उत्पन्न होता है; मोह उत्पन्न होता है।' सब-की-सब वे बातें, जिनकी संसार का प्रत्येक मज़हब (सम्प्रदाय) निन्दा करता है। परन्तु कैसे उत्पन्न होता है यह सब-कुछ? दौलत आने पर मनुष्य के मस्तिष्क में भोग-विलास की लालसा उत्पन्न होती है। धन से शराब ख़रीदी जा सकती है; प्रत्येक प्रकार के भोजन ख़रीदे जा सकते हैं और प्रत्येक प्रकार का भोग-विलास का सामान। जैसे ही इसमें रुकावट आती है तो क्रोध जागृत हो उठता है कि मेरे पास इतना धन है और मेरी बात नहीं मानी जाती? मैं निषेध करनेवालों को पीसकर रख दूंगा! अब ऐसा व्यक्ति किराये के गुण्डे पालता है; झगड़े-टंटे होते हैं; रक्तपात होता है। परन्तु धन ऐसा पदार्थ तो है नहीं कि आ जाय और पर्याप्त प्रतीत हो। मैंने आजतक उस अमीर को नहीं देखा कि जो कहता हो कि बहुत दौलत है; अब और नहीं चाहिये। दौलत से लोभ उत्पन्न होता है। आदमी सोचता है कि लाख है तो दस लाख हो जाय; दस लाख है तो करोड़ हो जाय; करोड़ है तो सौ करोड़ हो जाय और सौ करोड़ है तो और भी अधिक हो जाय। परन्तु इस लोभ का अन्त है नहीं। और जब इतने परिश्रम से, इतनी चालाकियों से और इतनी लगन से धन कमाया जाय तो उससे मोह तो होता ही है। कोई इसको चाहे साथ लेकर नहीं गया, परन्तु लगता ऐसा ही है कि हम अवश्य ले जाएंगे।

वैभवशालियों की दशा कैसी होती है—इसके विषय में सोचना हो तो मुझे लाहौर के लाला हरकिशनलाल याद आते हैं। बहुत धनी थे वह। मैं उन्हें कई बार मिला। कई बार उनके पास माँगने के लिए जाना पड़ता था। वेद-प्रचार के लिए धन माँगने कई बार मैं महात्मा

हंसराज जी के साथ उनके पास गया। प्रत्येक बार वह कहते, 'दे देंगे।' मैं पूछता, 'कब देंगे ?' वह कहते, 'दे देंगे, इतनी जल्दी क्या है ?' बस, 'दे देंगे' ही कहते रहे वह; कभी दिया कुछ नहीं उन्होंने।

परन्तु अन्त में हुआ क्या ? मकान छिन गया; दौलत छिन गई; अन्त समय एक होटल में मरे। होटल का बिल भी चुकता नहीं कर पाए।

यही दशा कितने ही दूसरे धनियों की भी हुई है।

अमेरिका में शिकागो नाम का एक नगर है। अमेरिका के आदि-वासियों की भाषा में शिकागो 'जंगली प्याज़' को कहते हैं। कभी वहाँ प्याज़ का बहुत बड़ा जंगल था। कुछ इंजीनियरों ने इस विशाल मैदान को देखा तो निर्णय किया कि वहाँ एक बड़ा नगर बसाना चाहिये। आरम्भ हुआ नगर बसाना। अब वहाँ संसार की सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डी है। भूमि के नीचे रेलगाड़ियाँ चलती हैं वहाँ; भूमि पर चलती हैं; भूमि से ऊपर भी चलती हैं। समुद्र दूर है; परन्तु एक इतनी बड़ी नहर बना दी गई है कि समुद्री जहाज़ शिकागो में पहुँच जाते हैं। इस शिकागो में १९४८ से २५ वर्ष पहले 'बीच होटल' नामक एक होटल में अमेरिका के कई धनी व्यक्ति एकत्र हुए। उनमें वह सज्जन भी थे कि जिन्हें 'लोहे का राजा' कहते थे; वह सज्जन भी थे जिन्हें 'गेहूँ का राजा' कहा जाता था। सोने के व्यापारी, हीरों के व्यापारी, मशीनों के व्यापारी, बड़े-बड़े कारखानेदार और ऐसे ही दूसरे लोग जो अपने-अपने व्यापार में सबसे अधिक धनी थे इकट्ठे हुए। २५ वर्ष पश्चात् १९४८ में, उनमें से कुछ लोग फिर इसी होटल में इकट्ठे हुए तो पता लगा कि 'लोहे का राजा' तो दिवालिया होकर मर गया है; 'गेहूँ का राजा' पागलखाने में है; 'मशीनों का व्यापारी' भीख माँगता-माँगता इस संसार से चला गया है; 'घी के राजा' ने आत्महत्या कर ली है; और कई दूसरे लोगों का भी हाल ऐसा ही हुआ।

अरे ! किस दौलत का अभिमान करते हो तुम ? क्यों कर रहे हो इसका संचय ? क्यों इसके लिए अपना स्वास्थ्य, अपना भविष्य, अपना लोक तथा परलोक, सब-कुछ नष्ट करते हो ?

धन कमा लिया है तो इसका ठीक-ठीक उपयोग करो ! इससे चिपटकर मत बैठ जाओ ! यह कभी किसी के साथ नहीं गया; कभी किसी के साथ नहीं जाएगा।

तब करना क्या चाहिये ? इस सम्बन्ध में वेद की बात आपको सुनाता हूँ। वेद धन का विरोधी नहीं है; वह इसकी निन्दा नहीं करता। अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के १५वें सूक्त में वेद कहता है—

येन धनेन प्रपणं चरामि, धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु, प्रजापतिः, सविता, सोमो, अग्निः॥

'मैं धन से व्यापार करके जिस धन को बढ़ाने का प्रयत्न करता हूँ उसमें, वह भगवान् जो सबका पिता, सबका स्वामी और सबको उन्नति के मार्ग पर ले-जानेवाला है, मेरी रुचि को, मेरे उत्साह को लगातार बढ़ाता रहे।'

इसी सूक्त का इससे पहला मन्त्र इस प्रकार है—

ये धनेन प्रपणं चरामि, धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥

'जिस धन से और धन कमाने की अभिलाषा से मैं व्यापार करता हूँ, वह मेरा धन लगातार बढ़ता जाय; कभी कम न हो। मुझे लाभ उठाने से रोकनेवाली, मुझे घाटा डालनेवाली शक्तियों को, हे प्रभो, तुम मुझसे दूर कर दो, इन्हें रोक दो !'

स्पष्ट है कि वेद ने धन की निन्दा नहीं की, विरोध नहीं किया; इसमें धन से और अधिक धन कमाने का उपदेश है। इसमें यह भी बताया है कि धन कमाया कैसे जाता है—व्यापार, अर्थात् कला-शिल्प-व्यवसाय-यंत्र आदि से, लेन-देन द्वारा, खेती-बाड़ी आदि के द्वारा। भगवान् से प्रार्थना की गई है कि मेरा धन कम न हो, बढ़ता जाय। परन्तु इन्हीं मन्त्रों में यह भी बताया है कि धन कमाने की इच्छा रखने-वालों को कैसा होना चाहिये।

मैंने जो पहला मन्त्र सुनाया है उसमें पाँच शब्द आते हैं—'इन्द्र', 'प्रजापति', 'सविता', 'सोम' और 'अग्नि'। ये पाँचों शब्द भगवान् के नाम भी हैं और पाँच गुणों का संकेत भी देते हैं। इन शब्दों को यहाँ

रखने का व्यावहारिक दृष्टि से यह अभिप्राय है कि जिस व्यापारी में ये पाँच गुण हों उसके पास धन स्वयं आएगा; वह बढ़ता भी जायेगा; उसको कभी घाटा नहीं पड़ेगा।

कौन-से हैं वे पाँच गुण ?

पहला गुण है '**इन्द्र**' होना—अर्थात् ऐसा शक्तिवाला बन कि दूसरों पर विजय प्राप्त कर सके। इन्द्र कहते हैं विजयशील को। जो सबको जीत ले, वह इन्द्र है। धनी व्यक्ति में यदि अपने शत्रुओं से धन को बचाने की, उन शत्रुओं को जीत लेने की शक्ति नहीं है तो उसका धन कब तक रहेगा ? इसलिए जो व्यक्ति चाहता है कि उसका धन कम न हो, बढ़ता जाय, उसको 'इन्द्र' होना चाहिये।

दूसरा गुण है '**प्रजापति**' होना—अर्थात् प्रजा का पालन करनेवाला होना। व्यक्ति ऐसा हो कि जो अपने साथ और अपने अधीन काम करनेवालों को, सेवक अथवा दास न समझकर अपने बच्चों के समान, अपनी प्रजा समझता रहे; जो उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता हो; उनके सुख-दुःख में सम्मिलित होता हो; प्रतिदिन देखता हो कि उसके पास काम करनेवालों का स्वास्थ्य ठीक है या नहीं; उन्हें अच्छा खाना मिलता है या नहीं; अच्छा कपड़ा मिलता है या नहीं; उनके पास रहने का स्थान ठीक है या नहीं; उनके बच्चों की शिक्षा ठीक है या नहीं। जो व्यक्ति इसी प्रकार की दूसरी बातों का हर घड़ी ध्यान रखता है, वह 'प्रजापति' है। जिस व्यापारी में यह गुण है, उसका धन लगातार बढ़ता है। जिसमें यह गुण नहीं है, जो अपने पास काम करनेवाले को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अपनी प्रजा, अपनी सन्तान के समान नहीं समझता, उसके यहाँ दंगे तो हो सकते हैं, हड़तालें भी हो सकती हैं, घृणा और क्रोध की आग भी भड़क सकती है, परन्तु लाभ उसको होता नहीं।

तीसरा गुण है '**सविता**' होना—अर्थात् किसी छोटे व्यापारी ने तुमसे धन लिया, माल लिया और उसे घाटा हो गया तो उसको निराश मत होने दो ! उसकी आशा को और उसके साहस को तोड़ो नहीं ! उसे प्रेरणा दो कि वह फिर से काम करे ! उसको साहस प्रदान करो,

सहारा दो ! 'सविता' सूर्य को भी कहते हैं । सूर्य जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को प्रकाश देता है, प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक व्यक्ति के लिए नई आशा बनकर आता है, उसी प्रकार तुम भी अपने से छोटे व्यक्तियों के प्रेरक तथा उत्साहप्रद बनो ! प्रकाश देनेवाले बनो !

चौथा गुण है **'सोम'** होना—अर्थात् मीठे बनकर रहो ! तुम्हारी जिह्वा पर कड़वाहट न हो ! व्यवहार में कटुता न हो ! मन में कटुता न हो ! याद रक्खो, जो दुकानदार कड़वा बोलता है, उसकी दुकान कभी चलती नहीं है । लोग ऐसे मनुष्य के समीप न जाकर उस मनुष्य के समीप जाते हैं जो मीठा बोलता है, भले ही वह कड़वा बोलनेवाले दुकानदार की अपेक्षा अधिक महँगी वस्तु क्यों न देता हो !

पाँचवाँ गुण है **'अग्नि'** होना—'अग्नि' का अर्थ है आगे बढ़नेवाला; ऊपर उठनेवाला । आग की लपटें सदा ऊपर जाती हैं; कभी नीचे नहीं जातीं । जो मनुष्य आग के समान आगे बढ़ता, ऊपर उठता है; नैतिक दृष्टि से, आत्मिक दृष्टि से, दूसरों से व्यवहार करने के विषय में, दूसरों की सहायता करने के विषय में, दूसरों की भलाई करने के विषय में लगातार आगे बढ़ता और ऊपर उठता है, उसके धन में लगातार वृद्धि होती है । वह अच्छा व्यापारी होता है ।

यह है वेद की महत्ता ! एक ही मन्त्र में वेद ने यह भी कहा कि धन कमाओ ! यह भी बताया कि कैसे कमाओ और यह भी बताया कि किसका धन बढ़ता है तथा कौन अच्छा व्यापारी है ।

गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होने का, विवाह करने तथा अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करने का अधिकारी कौन है ? इस सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों ने बताया है कि जिस व्यक्ति में चार गुण हों, केवल उसी व्यक्ति को गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकार है—(१) पहला गुण यह है कि मनुष्य के शरीर में **शक्ति** हो; शक्तिहीन, रोगी, निर्बल व वृद्ध मनुष्य को विवाह करने का अधिकार नहीं है ।

(२) दूसरा गुण यह है कि उसके हृदय में **आत्मविश्वास** हो । वह अपने संकल्प का पक्का हो । उसको अपने ऊपर भरोसा हो, ईश्वर पर विश्वास हो, नेक कर्मों पर भरोसा हो । जिसके हृदय में यह भरोसा

और विश्वास नहीं है, वह विवाह करा भी ले तो सफल नहीं होगा।

(३) तीसरा गुण यह है कि उसमें **नम्रता** हो, सहनशील हो, उसमें अभिमान न हो, अहंकार न हो, वह हर घड़ी अकड़ा हुआ न रहे। यदि उसमें अहंकार तथा अभिमान है तो उसका गृहस्थ जीवन कभी सुखी होगा नहीं।

(४) चौथा गुण यह है कि उसके मन में **प्रसन्नता** हो। वह हर घड़ी प्रसन्न रहता हो। उसके चेहरे पर मुस्कराहट खिली रहे। यदि वह सदा त्योरी चढ़ाए रहता है, यदि बात करता है तो दूसरों को खाने को दौड़ता है, यदि वह हर घड़ी दु:खी-निराश-उदास रहता है तो वह विवाह करके अपना जीवन तो दु:खी बनाएगा ही, किसी दूसरे का जीवन भी दु:खी बना देगा।

जिस व्यक्ति में ये चार गुण हों, उसी को गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये। परन्तु क्यों जी ! इन चार गुणों में कहीं धन की तो चर्चा तक नहीं आई; नहीं आई न जी ? इनमें कहीं भी यह नहीं कहा गया कि इस मनुष्य के पास मोटर होनी चाहिए, कोठी होनी चाहिये; बैंक में धन जमा होना चाहिये; इसकी नौकरी पक्की होनी चाहिये। कहीं नहीं कहा गया न ? इसीलिए नहीं कहा गया कि जिस मनुष्य में ये चार गुण होंगे, उसके पास धन स्वयमेव दौड़ता आयेगा; धन उसके चरणों में आ गिरेगा।

अफ्रीका में एक सज्जन रहते हैं, नानजीभाई कल्याणदास। आज उन्हें संसार के सभी बड़े-बड़े व्यापारी जानते हैं; बड़े-बड़े बैंकोंवाले जानते हैं। परन्तु एक समय था जब नानजीभाई कल्याणदास बहुत ग़रीब माँ-बाप का बहुत ही ग़रीब बेटा था। वह भली-भाँति पढ़ भी नहीं सका। थोड़ा-सा पढ़कर एक हलवाई की दुकान पर बर्तन माँजने के लिए नौकर हो गया। अवसर मिला तो ऐसी ही नौकरी करता हुआ अफ्रीका में पहुँच गया। वहाँ एक दुकानदार के पास नौकरी के लिए गया तो दुकानदार ने पूछा, 'तू बर्तन ही माँजना जानता है या कुछ पढ़ा-लिखा भी है ?'

नानजी ने कहा, 'थोड़ा-बहुत पढ़ लेता हूँ; हिसाब भी कर लेता हूँ।'

दुकानदार बोला, 'तब एक काम कर। यह देख, यह तांबे का तार है। यह तार ले-जा मुझसे। जंगल में जा। वहाँ जंगली लोगों के पास यह तार बेचकर बदले में हाथी-दाँत ख़रीद ला। जितने हाथी-दाँत खरीद लाएगा, उतना ही कमीशन मैं तुझे दूंगा।'

यह मुम्बासा की बात है।

नानजीभाई तांबे का तार लेकर जंगल-जंगल घूमता। अफ्रीका के जंगली लोग तांबे के तार से आभूषण बनाते हैं। वे नानजीभाई से तांबे का तार लेते; इसके बदले में हाथी-दाँत देते। कई महीने नानजीभाई यह काम करता रहा। इस प्रकार उसके पास पर्याप्त धन हो गया। नानजीभाई ने इस धन को भोग-विलास में व्यय नहीं किया। भूमि खरीद ली। वहाँ कपास बो दी। कपास में लाभ हुआ तो और भूमि खरीदकर उसमें गन्ना बो दिया। गन्ने से पर्याप्त आमदनी हुई तो शुगर-मिल लगा दी। फिर कई मील लम्बी-चौड़ी भूमि खरीदकर वहाँ चाय का बग़ीचा लगा दिया; चाय की फ़ैक्टरी चालू कर दी। इसके पश्चात् कई दूसरे काम भी किये। इस नानजीभाई ने, जो एक दिन हलवाई की दुकान पर बर्तन माँजने की नौकरी करता था, कितना धन कमाया, यह तो मुझे ज्ञात नहीं, परन्तु अब तक एक करोड़ ३५ लाख रुपया वह दान कर चुका है।

मनुष्य के शरीर में शक्ति, बुद्धि में नम्रता, हृदय में विश्वास और मन में प्रसन्न रहने का स्वभाव हो तो मिलता है धन; स्वयमेव दौड़ा आता है वह। ऐसे व्यक्ति को भगवान् छप्पर फाड़कर धन देता है। परन्तु पहले तुम क्षेत्र तो बनाओ! इन गुणों का क्षेत्र, नेकी का क्षेत्र, सबके लिए कल्याण की भावना का क्षेत्र बनाओ!

याद रक्खो, बुरे ढंग से धन या तो आता नहीं, आता है तो अपने साथ बेचैनी, व्याकुलता, मुसीबत, दुःख और चिन्ता ले आता है।

एक सेठ था। ब्याह-शादी के अवसर पर लोगों को देने के लिए उसने कुछ बर्तन ख़रीद रक्खे थे। बड़े-बड़े थाल, छोटी थालियाँ, कटोरे, कटोरियाँ, ग्लास, चम्मच, पतीलियाँ, कड़छियाँ आदि पीतल के बर्तनों के अतिरिक्त अमीरों के लिए उसने चाँदी के कुछ बर्तन भी बनवा रक्खे

थे। लोग ये बर्तन गिनकर ले जाते और गिनकर ही लौटा जाते। लोगों का काम चल जाता, उसकी शोभा हो जाती; उसे प्रसन्नता भी होती।

एक दिन एक मनुष्य इसके पास आया और बोला, 'सेठ जी, मेरे घर में एक पार्टी है; कुछ बर्तनों की आवश्यकता है।'

सेठ ने कहा, 'ले जाओ, भाई!'

उस व्यक्ति ने दस थाल, बीस कटोरियाँ, दस ग्लास लिये और चला गया। दूसरे दिन लौटकर आया तो जो बर्तन वह ले गया था, उनके अतिरिक्त दो-तीन थालियाँ, कुछ कटोरियाँ, कुछ छोटे ग्लास भी ले आया।

सेठ ने कहा, 'ये तो मैंने नहीं दिये थे; कहाँ से आ गये?'

उस आदमी ने कहा, 'ये तो इन बर्तनों के बच्चे हैं; रात-भर हमारे घर में रहे, तो इनके बच्चे हो गये। आपके बर्तनों के बच्चे मैं अपने घर में कैसे रख सकता हूँ! इन्हें भी आप ही रखिये।'

सेठ ने थोड़ी देर सोचा, फिर मन में लालच जाग उठा। उसने धीमे से कहा, 'अच्छी बात है। रख जाओ, भाई!'

कुछ दिनों के पश्चात् वह आदमी फिर आया; बोला, 'सेठ जी, आज तो बहुत बड़ी दावत है हमारे यहाँ। मुझे आवश्यकता है पचास थालियों की, दो सौ कटोरियों की, पचास ग्लासों की।'

सेठ जी ने ये बर्तन दे दिये। दूसरे दिन वह लौटकर आया तो जितने बर्तन ले गया था, उनसे कितने ही अधिक दे गया; बोला, 'ये तो आपके बर्तनों ने बच्चे दिये हैं, इन्हें भी रख लीजिये।'

इस बार सेठ को सोचने की भी आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। मन में लालच था ही। चुपके से उसने अतिरिक्त बर्तन भी रख लिये।

कुछ दिन बीते तो वह व्यक्ति फिर आया; बोला, 'आज तो कुछ बहुत धनाढ्य अतिथि आ गये हैं; उनके लिए चाँदी के बर्तनों की आवश्यकता है।'

सेठ ने प्रसन्नता से चाँदी के बर्तन भी दे दिये। वह व्यक्ति बर्तन लेकर चला गया। दूसरे दिन वह नहीं आया। तीसरे दिन भी नहीं

आया। आठ दिन बीत गये, तो भी नहीं आया। सेठ को चिन्ता हुई। वह स्वयं उसके घर पहुँचा; बोला, 'भाई, तुम बर्तन ले गये थे, लौटाये नहीं अभी तक?'

उस आदमी ने रोनी-सी सूरत बनाकर कहा, 'उन बर्तनों का क्या कहूँ, सेठ जी! वे तो उसी रात मर गये।'

सेठ ने क्रोध से कहा, 'बर्तन मर कैसे सकते हैं?'

उस व्यक्ति ने अपनी हँसी को दबाते हुए कहा, 'बर्तन यदि बच्चे दे सकते हैं तो मर क्यों नहीं सकते?'

यह है लालच का फल! मानव को आज लालच मार रहा है। किसी से पैसा मिल जाय, किसी भी विधि से मिल जाय, मिलने के पश्चात् कभी कहीं जाये नहीं—बस, यही चिन्ता आदमी को खाये जा रही है।

एक आदमी अपने हाथ की मुट्ठी में पैसा लेकर बाजार में गया। गर्मी के दिन थे और मुट्ठी बन्द थी। मुट्ठी में पसीना आया तो उस आदमी ने समझा कि पैसा रो रहा है। वह उसे चुपकाता हुआ बोला, 'रो नहीं, मेरे पैसे! मैं तुझे कहीं खर्च नहीं करूँगा, किसी को नहीं दूँगा, चल अपने घर को चलें।'

ऐसे कंजूस भी एक मुसीबत होते हैं। कभी राजा अश्वपति ने कहा था—

'न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो' न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः?'

'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई कंजूस नहीं है, शराबी नहीं है; कोई ऐसा आदमी नहीं जो हवन-यज्ञ न करता हो, दान न देता हो; कोई अनपढ़ नहीं; कोई दुराचारी मनुष्य नहीं; दुराचारिणी स्त्री फिर कैसे होगी?'

अर्थात् मनुष्य की कमियों की चर्चा करते हुए महाराज अश्वपति ने चोरी के पश्चात् कंजूसी को ही स्थान दिया है, कारण कि कंजूसी भी तो एक प्रकार की चोरी ही है! धन तुम्हारे पास विद्यमान है, मगर उसे अपने भले के लिए व्यय करते हो कि दूसरों के भले के लिए?

यह चोरी नहीं तो क्या है ? उधर पत्नी रोती है, इधर बच्चे रोते हैं, और आप तिजोरी में रक्खे रुपये गिन-गिनकर प्रसन्न होते रहें, यह भी कोई जीवन है ? कंजूसी तो छूत का रोग है; पति को हो तो कभी-कभी पत्नी को भी हो जाता है।

एक था दुकानदार, महाकंजूस ! दुकान बन्द करके रात को घर पहुँचा तो देखा कि सरसों के तेल का दीपक ऊँची लौ से जल रहा है। वह एकदम अपनी पत्नी से बोला, 'यह क्या कर रही हो तुम ? दीपक की बत्ती इतनी ऊँची क्यों कर रक्खी है ? इतने प्रकाश की क्या आवश्यकता ? देखती नहीं, तेल जल रहा है, पैसा जल रहा है ?'

परन्तु वह अभी यह बात कह ही रहा था कि उसे स्मरण आया कि दुकान के दरवाज़े पर वह एक ही ताला लगाकर आ गया है; दूसरा ताला लगाया ही नहीं। घबराहट में बोला, 'दुकान पर एक ही ताला लगाया मैंने; मैं जाता हूँ, दूसरा ताला लगा आऊँ।'

और शीघ्र ही दुकान की ओर चल दिया। परन्तु दुकान तक पहुँचने से पहले ही ध्यान आया कि दीपक की बत्ती बहुत ऊँची थी और तेल तो सारा जल जायेगा, पहले उसे ठीक कर आऊँ। और वह उल्टे पाँव घर पहुँच गया। हाँफ रहा था वह; देखा कि बत्ती अब नीची है और रोशनी पहले-जितनी नहीं है। हाँफता हुआ अपनी पत्नी से बोला, 'ठीक कर दिया तूने ! अच्छा किया ! मैं तो इसी चिन्ता में दूसरा ताला लगाए विना ही रास्ते से लौटकर घर आ गया कि तुम बत्ती को नीची करना न भूल जाओ और तेल ऐसे ही न जल जाय।'

पत्नी ने कहा, 'मैं क्या इतनी मूर्ख हूँ जी ? मैंने सुई से बत्ती नीची कर दी और सुई को जो तेल लग गया वह मैंने बालों में मल लिया। परन्तु तुम कौन-सी बुद्धिमत्ता कर रहे हो ? दुकान को गए भी और ताला लगाकर भी नहीं आये ? जूते की जो अतिरिक्त घिसाई हो गई, उसका क्या होगा ?'

पति ने मुस्कराकर कहा, 'इसकी चिन्ता न कर, भागवान ! मैं निर्बुद्धि थोड़े ही हूँ ! मैंने जूता बग़ल में दबा रक्खा है। जाती बार भी

नंगे पाँव गया, आती बार भी नंगे पाँव, और अब फिर नंगे पाँव ही जाऊँगा, जूता घिसेगा कैसे ?'

नहीं घिसेगा भाई ! यदि पाँव में पहनने के स्थान पर जूते को सिर पर बाँध लिया करो तो सचमुच कभी नहीं घिसेगा जूता, पाँवों में छाले भले ही पड़ जायँ।

परन्तु सुनो, सुनो, सुनो ! धन कमाने की यह विधि नहीं है। धन कमाना है तो तुम पाँच गुणों को धारण करो, जिनका उल्लेख भगवान् ने किया—'इन्द्र' बनो, 'प्रजापति' बनो, 'सविता' बनो, 'सोम' बनो, 'अग्नि' बनो !

और जब यह धन आ जाय, तब ? वेद कहता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः,
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्,
केवलाघो भवति केवलादी ॥

'जो अपने धन को अकेला खाता है, अकेला भोगता है, उस व्यक्ति के विषय में मैं सच कहता हूँ कि उसने धन व्यर्थ ही कमाया। याद रक्खो, वह धन उसकी मृत्यु बन जाता है। कारण कि वह न तो अपने देश को और अपने देश के प्रशासन को ही सुदृढ़ करता है और न अपने साथियों तथा अपने देशवासियों को। जो अकेला खाता है, वह धन को नहीं भोगता, पाप का संचय करता है।'

यह है वेद का समाजवाद ! वेद का 'सोशलिज़्म' ! धन कमाया है तो उसको अकेले मत खाओ ! देखो कि तुम्हारे मुहल्ले में किसी ग़रीब का बेटा भूखा तो नहीं सो गया है ? किसी रोगी को औषधि की आवश्यकता तो नहीं है ? कोई बालक शिक्षा से वंचित तो नहीं है ? कोई व्यक्ति बेरोज़गार, बूढ़ा अथवा आश्रयरहित तो नहीं है ? यह देखो कि तुम्हारे नगर में कोई निर्धन अपनी जान को तो नहीं रोता ? कोई श्रमिक मज़दूर धन की कमी के कारण तो दुःखी नहीं है ? किसी क्लर्क का बेटा इस कारण तो कॉलेज में पढ़ने से नहीं रह गया कि उसके पास फ़ीस देने के लिए पैसे नहीं हैं ? किसी विधवा की

नवयुवती पुत्री इस कारण अविवाहित तो नहीं बैठी कि उसके पास छोटी-सी बारात का व्यय-भार सहन करने के लिए भी कुछ नहीं है ? देखो कि तुम्हारे देश में ऐसे गाँव तो नहीं कि जहाँ पीने का पानी नहीं मिलता ? ऐसे कस्बे तो नहीं कि जहाँ अस्पताल नहीं है ? ऐसे प्रदेश तो नहीं है कि जहाँ देशवासियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है ? देखो यह सब-कुछ और अपने देश को सुदृढ़ बनाने के लिए, अपने देश-वासियों को सुखी बनाने के लिए अपना धन व्यय करो, बाँटकर खाओ ! नहीं तो याद रक्खो, तुम विष-भक्षण कर रहे हो, और अपनी मृत्यु को आमन्त्रित कर रहे हो।

और सुनो ! यह बात कार्ल मार्क्स नहीं कहता, लेनिन नहीं कहता, स्टालिन नहीं कहता, वह वेद कहता है कि जिसका ज्ञान भगवान् ने मानव को सृष्टि के आरम्भ में दिया और जिसको हम आर्य लोग सबसे अधिक पवित्र और सबसे अधिक पूजनीय ग्रंथ मानते हैं। यह 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल में ११७वें सूक्त का छठा मन्त्र है जो मैंने आपको सुनाया।

इस बात पर बल देते हुए वेद कहता है—हे मानवो, सुनो ! तुम्हारे पीने का पानी एक हो, सबको एक-जैसा पानी मिले। तुम सब मिलकर, बाँटकर अनाज को खाओ। ऐसा न हो कि कोई तो बहुत अधिक खा जाय और कोई भूखा बैठा रहे। ऐसा न हो कि कुछ इतना खायँ कि रोगी हो जायँ, और कुछ पेटभर रोटी के लिए ही तरसते रह जायँ। मैंने तुम सबको एक बन्धन में बाँध दिया है, मनुष्यता के बन्धन में, इकट्ठे रहने के लिए, प्यार से रहने के लिए। पहिये के धुरे जैसे अलग होते हुए भी इकट्ठे रहते हैं, एक ही केन्द्र से बँधे रहते हैं, वैसे ही तुम सब भी इकट्ठे होकर एक लक्ष्य, एक उद्देश्य को अपनाओ !

यह है वेद का समाजवाद ! बाँटकर खाओ ! अधिक धन है तो अधिक लोगों को उससे लाभ पहुँचाओ ! अधिक लोगों के साथ बाँटकर खाओ ! कम है तो कम लोगों के साथ बाँटकर खाओ ! परन्तु खाओ बाँटकर ही !

'अथर्ववेद' के तीसरे काण्ड में तीसवें सूक्त का पहला मन्त्र इस प्रकार है—

सहृदयं साम्मनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभि हर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

'सुनो, हे संसार के लोगो ! मैंने तुम सबको एक हृदयवाला, एक चित्तवाला, एक-दूसरे से प्यार करनेवाला बनाया है। मिलकर रहो ! आपस में ऐसे ही प्यार करो जैसे नये उत्पन्न हुए बछड़े के पास गाय खिंचकर दौड़ी हुई जाती है।'

यह है वेद का उपदेश ! आपस में मिलकर रहने का, बाँटकर खाने का उपदेश ! इसमें कहाँ लिखा है कि कुछ लोग तो लखपति, करोड़पति और अरबपति बन जायँ और करोड़ों भूख से तड़पते रहें ? अभाव, पराजय और पिछड़ेपन की आग में जलते रहें ? वेद के इस उपदेश को कुछ लोगों ने भुला दिया; नहीं समझा उन्होंने कि यह धन **'कस्य स्विद्धनम्'**—ईश्वर का है; उसके अतिरिक्त किसी का नहीं है; यह भूमि, यह सम्पत्ति, यह सब-कुछ उसका है—

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।'

'इस जगत् में जो कुछ भी जगत् है, इस संसार में जितना भी संसार है, जो कुछ भी दिखाई देता है, वह ईश्वर से भरपूर है, वह सब ईश्वर का ही है।'

इस बात को भुला दिया लोगों ने। यह समझ लिया कि धन हमारा है; हमने इसे कमाया है; हमारे बाप-दादा ने इसे दिया है; इसलिए हमें साँप बनकर इसपर बैठना है; हमको ही भोग-विलास का जीवन बिताना है। दूसरे लोग भूखे रहते हैं तो रहते रहें, हमारे बेटों को ही सुख से रहना है; दूसरों के बेटे कष्टों और मुसीबतों के शिकार बनते हैं तो बनते रहें। इस विचार से ग़रीब और दरिद्र के हृदय में घृणा उत्पन्न होती है, क्रोध उपजता है। इसीसे कार्ल मार्क्स, लेनिन और स्टालिन का कम्युनिज़्म पैदा हुआ। नहीं; मार्क्स, लेनिन और स्टालिन ने नहीं; उन बड़े-बड़े सरदारों ने, पूंजीपतियों ने कम्युनिज़्म को पैदा किया जो आज उसको अपना सबसे बड़ा शत्रु समझे बैठे हैं। अपने

शत्रु को उन्होंने स्वयं उत्पन्न किया है। यह समझ लिया उन्होंने कि हम बड़े हैं, धनवान् हैं, सम्पत्तिशाली हैं; दूसरे छोटे हैं, निर्धन हैं, सेवक हैं; केवल हमको ही जीवित रहने का अधिकार है; दूसरों का यह अधिकार है ही नहीं। इस ग़लत और विनाशकारी भावना के विरुद्ध विद्रोह करके साम्यवाद जाग उठा। परन्तु कौन बड़ा है और कौन छोटा है—इस विषय में वेद भगवान् ने कहा है—

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठासो एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।'

ऋग्वेद के ५वें मण्डल में ६०वें सूक्त का पाँचवाँ मन्त्र है यह। इसका अर्थ यह है कि 'तुममें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं; तुम सब भाई-भाई हो; साथ-साथ आगे बढ़ो, सौभाग्य के लिए।'

यह है वेद का उपदेश ! तुममें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं; तुम सब भाई-भाई हो; मिलकर, एक होकर, परस्पर लड़ाई-झगड़ा न करते हुए, एक-दूसरे की सहायता करते हुए आगे बढ़ो। परन्तु किस-लिए आगे बढ़ो ? क्या बसों को आग लगाने के लिए ? दूसरों के घर लूटने के लिए ? लोगों की हत्या करने के लिए ? उन्हें घायल करने के लिए ? दूसरों की दुकानें लूटने के लिए ? रेलगाड़ियों पर पत्थर फेंकने के लिए ? अपने ही देश को हानि पहुँचाने के लिए ?—नहीं; सौभाग्य के लिए ; सम्पन्नता के लिए; उन्नति के लिए; सबका भला करने के लिए ; इसलिए कि तुम सब एक हो। परमात्मा तुम्हारा पिता है; भूमि तुम्हारी माता है। एक पिता और एक माता की सन्तान होकर परस्पर लड़ो मत ! एक-दूसरे का गला मत काटो ! यह मत समझो कि यह अपना है, दूसरा पराया है ! यह सारा संसार तुम्हारा परिवार है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है, वह पराया है—ऐसा तो संकुचित हृदयवाले, छोटे दिलवाले सोचते हैं, अल्पबुद्धि सोचते हैं; जिनके हृदय में उदारता है, जो विशाल हृदयवाले हैं, पूरी बुद्धिवाले हैं, उनके लिए यह सारी पृथिवी, इसपर रहनेवाले सभी मनुष्य एक परिवार हैं।'

परन्तु मैं आपको बता रहा था कि धन कमा लिया गया हो तो उसका करना क्या है ?

हमारे स्मृति-ग्रन्थ कहते हैं कि कमाए हुए धन के पाँच हिस्से करो—एक धर्म के लिए, दूसरा देश के लिए, तीसरा आगे चलकर और धन कमाने के लिए, चौथा अपने आराम के लिए और पाँचवाँ अपने सम्बन्धियों, मित्रों और साथियों के लिए।

इनमें से सबसे पहले धर्म का उल्लेख है। धर्म क्या है?—धर्म का अर्थ है वह कार्यविधि जिससे मनुष्य 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी बनता है। और मनुष्य कौन है ? वह, जो दूसरों की भलाई के लिए सोचता, दूसरों की भलाई के लिए काम करता है; जो केवल अपनी प्रसन्नता के लिए ही नहीं, दूसरों की भलाई के लिए भी यत्न करता है। अपने लिए तो कीड़े-मकोड़े, कुत्ते-बिल्ले, घोड़े-गधे भी काम करते हैं; शेर, चीते, रीछ और भेड़िये भी यत्न करते हैं; साँप, बिच्छू भी करते हैं। फिर इनमें तथा मनुष्य में अन्तर क्या है?—यही कि मनुष्य जहाँ अपने लिए सोचता है, वहाँ दूसरों के लिए भी सोचता है। दूसरों को भी वह सुखी व सम्पन्न बनाने का यत्न करता है। और धन के विषय में मनुष्य का धर्म क्या है ? यही कि उसे दान दे। याद रक्खो, जो दान देते हैं, अपने धन से दूसरों की सहायता करते हैं, उनका धन सदा बढ़ता है, कभी कम नहीं होता—

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटता नीर।
दान दिये धन ना घटे, कह गए भगत कबीर॥

और दान का अभिप्राय क्या है ? यह कि जिन लोगों को धन की आवश्यकता है, जो तुम्हारी तुलना में ग़रीब हैं, उनकी आवश्यकता को पूरा करो ! यह भी देखो कि उन्हें कोई कमी तो नहीं है ? वे दुःखी तो नहीं हैं ? यदि दूसरे लोग दुःखी हैं और तुम्हारी तिजोरी में धन बन्द पड़ा है तो वह धन नहीं, पाप है। खोल दो अपनी तिजोरियों के दरवाज़े जिससे तुम्हारा धर्म पूरा हो और तुम मनुष्य कहलाने के अधिकारी बनो !

तुम्हारे धन का दूसरा भाग देश के लिए, और तीसरा आगे और

धन कमाने के लिए है। ऐसा न हो कि अभी से सारा व्यय कर दो और आगे चलकर काम करने के लिए पैसा न रहे। तब अपने आराम के लिए भी व्यय करो। कंजूस बनकर न बैठ जाओ! दूसरों को सुखी बनाओ अवश्य; स्वयं भी सुख से रहो और तब अपने सम्बन्धियों, मित्रों और साथियों के लिए भी व्यय करो; उनमें जो ग़रीब हैं, उन्हें ऊपर उठाने का यत्न करो, उनकी सहायता करो!

हमारे शास्त्र कहते हैं कि जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह इस लोक में भी प्रसन्न रहता है, परलोक में भी; उसके लोक तथा परलोक दोनों सफल हो जाते हैं; दोनों प्रसन्नता से भरपूर हो जाते हैं। और शास्त्र भी यह कहते हैं कि जो व्यक्ति धन कमाने के पश्चात् दान नहीं करता, देश के लिए व्यय नहीं करता, आगे के लिए धन बचाकर नहीं रखता, अपने आराम के लिए व्यय नहीं करता, अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा साथियों की सहायता नहीं करता, उसकी दशा क्या है? स्मृति कहती है कि ऐसे मनुष्य को धनवान् कहना ही ग़लत है। यदि वह भी धनवान् है तो कंगाल-से-कंगाल भिखारी भी धनवान् है।

क्यों जी! पंजाब नैशनल बैंक के चौकीदार को देखा है आपने कभी? या ऐसे किसी दूसरे बैंक के चौकीदार को? बैंक के बाहर वह पहरा देता रहता है। बैंक के भीतर पड़ा है लाखों रुपया। चौकीदार को मिलते हैं केवल डेढ़ सौ रुपए। बैंक में रक्खे लाखों रुपए उसके किसी काम नहीं आते; उसे उनका उपयोग नहीं करना। ऐसे ही यदि किसी व्यक्ति का लाखों रुपया बैंक में पड़ा है और वह उसे दान के लिए, देश के लिए, अपने लिए या मित्रों तथा सम्बन्धियों के लिए उपयोग में नहीं लाता तो उसमें और बैंक के चौकीदार में अन्तर ही क्या है? केवल यह कि चौकीदार तो अपनी ड्यूटी पूरी करके घर में जाकर आराम से सो जाता है, और जिस व्यक्ति का रुपया बैंक में पड़ा है उसे रात को भी इसी चिन्ता में नींद नहीं आती कि कहीं बैंक फ़ेल न हो जाय। इस अन्तर के अतिरिक्त, दोनों ही चौकीदार हैं, दोनों ही धन की रक्षा कर रहे हैं और बैंक में रक्खे धन को वे प्रयुक्त नहीं करते हैं।

अरे ओ चौकीदारो! किस बात का अभिमान करते हो तुम? जो

तुम्हारे काम नहीं आता, जिसे तुम दान नहीं करते, जिससे किसी को लाभ नहीं पहुँचता, उस धन को जोड़-जोड़कर करोगे क्या? याद रक्खो—

जोड़-जोड़ मर जाएँगे, माल जँवाई खाएँगे।

ऐसे धन का करना क्या जिसे न तुम प्रयोग में लाओ और न दूसरे उसे प्रयोग में ला सकें? फ़ारसी भाषा में एक कहावत है—

तवंगरी ब-दिल अस्त, न ब-माल;
बुज़ुर्गी ब-अक्ल अस्त न कि ब-साल।

'अमीरी दौलत से नहीं, दिल से होती है। पूज्यता आयु से नहीं, बुद्धि से होती है।' यदि दिल ही नहीं तो फिर धन का होना-न-होना बराबर है।

हमारे शास्त्र धन की निन्दा नहीं करते, धन कमाने की निन्दा नहीं करते। स्पष्टतया यह कहते हैं कि धन अवश्य कमाओ; पर अच्छे तरीके से धन कमाओ, नेकी से कमाओ; दूसरों को दुःख देकर या मार-काट करके मत कमाओ! अवैध लाभ खाकर मत कमाओ! मिलावट करके न कमाओ! दूसरों का भला करके, दूसरों की सहायता करके, उन्हें लाभ पहुँचाकर, वैध लाभ लेकर कमाओ! एकदम लखपति और करोड़पति बनने का यत्न मत करो!

परन्तु आजकल इन बातों को मानता कौन है जी? लोग चाहते हैं कि एक-साथ बहुत-सा रुपया मिल जाय, एक-साथ हज़ारों से लाखों और लाखों से करोड़ों हो जाय। इसके लिए कितनी ही विधियाँ अपनाते हैं वे—काला बाज़ार, मनमाना लाभ उठाना, रिश्वत, सट्टा और जुआ। अब तो सरकार ने भी लॉटरी आरम्भ कर दी है। परन्तु देखो, ऐसा धन बहुत देर तक रहता नहीं है। मनुष्य के पास वही धन रहता है, वही उसके काम आता है जिसे वह प्रेमपूर्वक, बुद्धिपूर्वक, पसीना बहाकर कमाता है। यह भी स्मरण रक्खो कि धन कैमिस्ट की दुकान तो ख़रीद सकता है परन्तु स्वास्थ्य को नहीं ख़रीद सकता। धन कमाने के लिए अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश मत करो! स्वास्थ्य बिगड़ गया तो धन किसी काम नहीं आएगा।

मैं बम्बई में था। एक सेठ जी मिले। कई हज़ार रुपए वह दवाइयों पर व्यय कर चुके थे। उन्हें नींद नहीं आती थी। मेरे पास आए तो बहुत दुःखी थे। जिनको नींद न आए उनका स्वास्थ्य कहाँ रहेगा ! छोटी ही आयु में बहुत बूढ़े दिखाई देने लगे थे।

मैंने पूछा, 'सेठ जी ! आपकी नींद चली कैसे गई ?'

वह बोले, 'मैं ग़रीब था। एक दुकान पर मुनीम की नौकरी की। दुकान का हिसाब-किताब ठीक रखने के लिए मुझे रात को एक-एक और दो-दो बजे तक जागना पड़ता था। नींद आती थी बहुत; मैं उसे मिटाने के लिए आँखों को बार-बार पानी के छींटे देता था। ऐसा करते-करते कई वर्ष बीत गए। मैंने अपना कारोबार आरम्भ किया तो काम और भी अधिक हो गया। अब यह दशा हो गई है कि धन बहुत है, पर नींद लेश-मात्र भी नहीं है।'

मैंने कहा, 'सेठ जी ! नींद आती थी तो आपने उसको पानी के छींटे मार-मारकर भगा दिया; अब नींद नहीं आती तो रोते हो। आपने धन के लिए नींद को भगाया, अब धन देकर भी नींद नहीं आती तो अपराध किसका है ?'

सो मेरे भाई ! इस प्रकार धन मत कमाओ कि स्वास्थ्य ही नष्ट हो जाय ! धन बहुमूल्य है, परन्तु स्वास्थ्य का मूल्य उससे भी कई गुणा अधिक है।

कई लोग यह भी शिकायत करते हैं कि हम उचित विधि से धन कमाते हैं और फिर उसको उचित विधि से खर्च करते हैं; फिर भी मन दुःखी रहता है, रोने को मन होता है।

अब ऐसे लोगों से कोई क्या कहे ? कइयों की तो आकृति ही ऐसी होती है कि मानो अभी-अभी किसी के यहाँ शोक-समवेदना प्रकट करके आये हों। हर घड़ी रोते ही रहते हैं वे। रोना उनका स्वभाव बन जाता है—शिकायतें करना, हर घड़ी प्रत्येक बात का काला पक्ष ही देखना, उज्ज्वल पक्ष को कभी देखना ही नहीं।

परन्तु यह प्रसन्नता भी धन से नहीं मिलती। प्रसन्नता तो मन की एक दशा का नाम है। यह मन के भीतर से उपजती है० बाहर कहीं से

ग्राती नहीं ।

ग्रौर रोने की इस चर्चा से एक बात याद ग्राई । एक दिन दिल्ली में विवाह बहुत हो रहे थे । जिधर देखो उधर बाजे बज रहे हैं, बत्तियाँ जगमगा रही हैं, घोड़ियों पर चढ़े दूल्हे जा रहे हैं । ऐसा प्रतीत होता था कि मानो ग्राज दिल्ली के प्रत्येक मनुष्य का विवाह हो जायगा, कोई कुँग्रारा नहीं रहेगा ।

वह दिन बीता; रात बीत गई । दूसरे दिन एक दुल्हिन विदा हो रही थी । लड़की रो रही थी, घरवाले रो रहे थे, कई मुहल्लेवाले भी रो रहे थे, परन्तु दूल्हा चुपचाप खड़ा था ।

किसी ने उसके पास जाकर पूछा, 'ये सब लोग रो रहे हैं, तुम क्यों नहीं रोते ?'

वह बोला, 'ये तो ग्रभी रोते हैं, मुझे जीवन-भर रोना है ।'

परन्तु उसकी यह बात तो ग़लत है । गृहस्थाश्रम रोने के लिए नहीं है । जैसा मैंने पहले बताया, गृहस्थाश्रम में उसीको प्रविष्ट होना चाहिये जिसके शरीर में बल हो, बुद्धि में नम्रता हो, हृदय में विश्वास हो ग्रौर मन में प्रसन्नता हो । यदि ग्राप हँस नहीं सकते, दूसरों को हँसा नहीं सकते तो फिर विवाह करके, ग्रपने साथ-साथ दूसरे का जीवन क्यों दुःखी बनाते हो ? यही बात धन की है । वैध रीति से कमाग्रो ! वैध रीति से व्यय करो ग्रौर प्रसन्नतापूर्वक रहो ! रोते मत फिरो ! शिकायतें मत करते फिरो !

परन्तु लो जी, समय तो हो गया, इसलिए शेष बातें कल । ग्रो३म् शम् !

□

तीसरा दिन

[पूज्य श्री स्वामी जी महाराज ने लम्बी धुन और ऊँचे स्वर से लगभग एक मिनट में एक ही बार 'ओ······३······म्' कहने के पश्चात् अपनी कथा आरम्भ की—]

प्यारी माताओ और सज्जनो !

परसों मैंने धन-विषयक कुछ विचार आपके सामने रखने आरम्भ किये थे; कल भी कुछ विचार रक्खे। संसार के सामने सदा से यह एक समस्या रही है कि मानव-जीवन की सफलता का आधार क्या है ? आज के संसार ने समझा कि धन ही इस सफलता का आधार है; जिसके पास पैसा नहीं है उसका मूल्य तो दो कौड़ी के बराबर भी नहीं है। इस कारण जीवन का अन्तिम लक्ष्य, उसका अन्तिम गन्तव्य पैसा है। जैसे भी हो, मनुष्य को धन कमाना चाहिए, धन का संग्रह करना चाहिए।

तब मैंने आपको यह भी बताया कि वेद भगवान् धन कमाने की निन्दा नहीं करता, इसका विरोध नहीं करता। आपको वह दूसरा मंत्र बताया था न—

येन धनेन प्रपणं चरामि,
धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु,
प्रजापतिः, सविता, सोमो, अग्निः ॥

'धन द्वारा व्यापार करके जिस धन को मैं बढ़ाने का यत्न करता हूँ उसमें वह भगवान्, जो सबका पथ-प्रदर्शक है, सबका प्रकाशदाता, सबका स्वामी और सबको उन्नति की ओर ले-जानेवाला है, मेरी रुचि को, उसके प्रति मेरे उत्साह को लगातार बढ़ाये।'

और फिर ऋग्वेद (१०। १२१। १०) में यह प्रार्थना भी तो है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

'हे सारे संसार के रचयिता ! सबके स्वामी ! इस संसार में, इन अरबों-खरबों ब्रह्माण्डों के भीतर कोई भी चर अथवा अचर तुमसे बड़ा नहीं है। तुम ही सबसे बड़े हो, सबसे अधिक शक्ति के धनी, सबको जीवन देनेवाले, सबको शक्ति देनेवाले, सबका पालन करनेवाले हो। अब तुम्हीं कृपा कर दो भगवन्, कि जिस इच्छा अथवा कामना को लेकर हम तुम्हें स्मरण करते हैं, वह हमारी कामना पूरी हो जाय; जो कुछ हम प्राप्त किया चाहते हैं, वह हमें प्राप्त हो जाय। धन, वैभव, सम्पत्ति—सबके हम स्वामी बन जायँ।'

है इसमें कहीं धन की निन्दा ? यह तो धन ही के लिए प्रार्थना है। वेद भगवान् धन की निन्दा नहीं करता। परन्तु, वह इसके साथ यह भी कहता है कि 'सोचो, यह धन किसका है ?' **'कस्य स्विद्धनम् ?'** किसका है धन ? यह वैभव ? यह सम्पत्ति ?

जिसने इन्हें कमाया है वह कहेगा, 'यह सब मेरा है।' प्रशासन कहेगा, 'इसमें मेरा भी भाग है, मुझे देश का प्रबन्ध करना है।' सैनिक कहेंगे, 'हम देश की सीमाओं पर बैठे तुम्हारी रक्षा करते हैं, इसमें हमारा भी भाग है।' पुलिस कहेगी, 'हम चोरों और डाकुओं और गुण्डों से तुम्हारी रक्षा करते हैं, इसमें हमारा भी भाग है।' मज़दूर कहेगा, 'यह धन तुम्हारा कैसे है ? परिश्रम तो मैं करता रहा; पसीना बहाता रहा मैं; तुम तो गद्दी पर, आराम-कुर्सी पर बैठे रहे; यह धन तो मेरा है।' साहूकार कहेगा, 'पूँजी तो मैंने दी; उस पूँजी से तुमने कारोबार किया, मशीनें ख़रीदीं, कारखाना लगाया, इसलिए इस धन का एक बड़ा भाग मेरा है।'

सब कहते हैं यह धन मेरा है, यह दौलत मेरी है। परन्तु 'यह मेरा'-'यह मेरी' यही तो विपत्ति की जड़ है !

'मैं' 'मेरी' तू मत करे, 'मेरी' मूल विनाश।
'मेरी' पग का पैकड़ा, 'मेरी' गल का फाँस ॥

मत कहो कि यह मेरा धन है, यह मेरी दौलत है। यह 'मेरा'-'मेरी' तो पाँव की ज़ंजीरें हैं, गले की फाँसी। यह विनाश और विध्वंस की मूल हैं। इनसे बचे बिना वह ईश्वर कभी मिलता नहीं जो अनन्त सुख

है, अनन्त आनन्द है, अनन्त शान्ति है—

'मैं' 'मेरी' जब जायगी, तब आयेगी और।
जब मन निश्चल होयगा, तब पायेगी ठौर॥

'जब यह भावना मिटेगी कि यह धन मेरा है, यह सम्पत्ति मेरी है, तभी वह दूसरी वस्तु (शांति) आयेगी। 'मेरा'-'मेरी' की बेचैनी से ऊपर उठकर जब मन निश्चल होगा और प्रभु का ध्यान करेगा, तभी वह ठिकाना मिलेगा जो मनुष्य का गन्तव्य है, जिसके बिना कहीं चैन नहीं।'

परन्तु इस बात को सुनते कितने लोग हैं ? सब कहते हैं—मेरा है, मेरा है। तब यह धन किसका है ? वेद भगवान् इन शब्दों में प्रश्न पूछता है—**'कस्य स्वित् धनम् ?'** और इन्हीं शब्दों में उत्तर देता है—**'क अस्य स्वित् धनम्'**—'क' अर्थात् प्रजापति जो है 'उस'-का निश्चय रूप से यह धन है; किसी दूसरे का नहीं है।

'प्रजापति' का अर्थ है 'प्रजा' अर्थात् अपने से छोटे, अपने से ग़रीब, अपने से निर्बल, अपने अधीनस्थ मनुष्य का पालन करनेवाला। जो मनुष्य दीनों की, दुःखियों की, रोगियों की, असहायों की, विपत्तिग्रस्तों की, अनाथों की, विधवाओं की, अकाल तथा भूचाल से पीड़ितों की रक्षा करता है, उनकी सहायता करता है—उसका धन है यह।

प्रजापति 'प्रशासन' को भी कहते हैं। जो प्रशासन (अथवा गवर्नमेंट) करों के द्वारा अथवा दूसरी रीतियों से उपलब्ध आय को देश की रक्षा में, देश के धन को दीन-दुःखियों की, ग़रीबों की, असहायों की, श्रमिकों की, बेरोज़गारों की सहायता में व्यय करता है, उन्हें यह अनुभव नहीं होने देता कि वे ग़रीब हैं, निस्सहाय और निराश्रय हैं, उसका है यह धन।

और फिर 'प्रजापति' कहते हैं परमात्मा को; कारण कि सब दानियों में सबसे बड़ा दानी वही है, सबसे बड़ा शासक है वह, सबसे बड़ा रक्षक है वह। आप उसको मानें या न मानें, उसका नाम लें या न लें, वह अपनी प्रजा की, जिसको उसने उत्पन्न किया है, रक्षा और पालन अवश्य करता है। पृथिवी की गहरी तहों में, सागर के अगाध

पानी में, धरती पर के घने जंगलों में, आकाश के अनन्त विस्तारों में, ग्रह-नक्षत्र सूर्य-चन्द्रमा और ब्रह्माण्ड में, प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक की पालना करनेवाला है वह। वस्तुतः यह धन उसका है।

और सोचकर देखिये कि यह बात क्या सच नहीं है ?

धन है क्या ? सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात, विविध प्रकार की धातुएँ, कीमती पत्थर, मिट्टी, कंकर, चट्टानें, पहाड़, नदियाँ, जंगल, खेत।

यह सोना-चाँदी, हीरे-रत्न, ये धातुएँ और ये कीमती पत्थर कहाँ से आते हैं ? भूमि में से खोदकर इन्हें निकालता है मनुष्य। और यह भूमि किसकी है ? ये पहाड़ किसके हैं ? ये जंगल और खेत किसके हैं ? कुछ लोग कहेंगे, 'ये हमारे हैं।' कुछ शासक कहेंगे, 'ये हमारे हैं।' परन्तु सोचकर देखो, जब तुम नहीं थे, तुम्हारे बाप, दादा, परदादा भी नहीं थे, जब ये शासक नहीं थे, तब भी ये हीरे, रत्न, सोना, चाँदी, धातुएँ, भूमि के अन्दर विद्यमान थे। पहाड़, खेत और जंगल विद्यमान थे। नदियाँ और सागर विद्यमान थे। तब फिर किसकी है भूमि ? कई-कई मंज़िलोंवाले मकान बनानेवाला मकान को देखकर कहता है, 'यह मकान मेरा है, भूमि मेरी है' परन्तु—

कबिरा गरब न कीजिये, ऊँचे देख आवास।
काल परे भुईं लेटना, ऊपर जमसी घास॥

'आवास' कहते हैं मकान को, महल को। अरे सुनो ! अपने ऊँचे मकान को देखकर अभिमान मत करो, कल हो या परसों, समय आयेगा जब तुम भूमि पर लेटोगे, भूमि के गर्भ में, कब्र में, और उसके ऊपर घास जम रही होगी।' यह मकान तुम्हारे साथ जायेगा नहीं; यह तुम्हारा है नहीं। यह उसका है जो तुमसे करोड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, करोड़ों वर्ष पश्चात् भी विद्यमान रहेगा—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।

'इस जगत् में, अरबों-खरबों ब्रह्माण्डों में जो कुछ भी है वह सब उस ईश्वर का है।'

कुछ लोग कहते हैं, धन उसका है कि जिसमें शक्ति है। यह बात

यहाँ तक तो ठीक है कि धन की रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। यदि आपमें, आपके देश में बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, तो कोई दूसरा बलशाली इस धन को छीन ले जायेगा। दिल्ली में तख़्ते-ताऊस था न, नादिरशाह उसको ले गया। कारण कि दिल्ली के शासक में नादिरशाह का मुकाबिला करने की शक्ति नहीं थी। महाराजा रणजीतसिंह के उत्तराधिकारियों के पास कोहेनूर हीरा था न, अंग्रेज़ उसको ले गये। कारण कि महाराजा रणजीतसिंह के उत्तराधिकारियों में इतना बल नहीं था कि अंग्रेज़ों का मुकाबिला कर सकें। धन की रक्षा के लिए बल आवश्यक है। परन्तु याद रक्खो, बलवाले का भी धन नहीं है क्योंकि अन्त में तो उसको भी मरना है। मरने के साथ ही उसका बल समाप्त हो जाता है। रावण अति बलशाली था, दुर्योधन बड़ा शक्तिशाली था। उनके वैभव का अन्त में क्या हुआ ? कहाँ गया वह वैभव ?

इसी कारण वेद ने कहा—धन प्रजापति का है।

कल मैंने आपको बताया कि जहाँ यह सच है कि वेद धन की निन्दा नहीं करता, वहाँ यह भी सच है कि धन के विषय में जब 'अति' हो जाती है तब कैसी-कैसी बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, कैसा भयंकर विध्वंस आरम्भ हो जाता है। अमेरिका से प्रकाशित होनेवाली 'अवेक' (Awake) नामक पत्रिका की बात बता रहा था मैं। अमेरिका आज संसार में सबसे अधिक वैभवशाली देश है। परन्तु वैभव की अति हो जाने के कारण अमेरिका में जो कुछ हो रहा है, उसके सम्बन्ध में इस पत्रिका ने जो बताया है उसकी कुछ और बातें सुनिये ! यह पत्रिका लिखती है कि अमेरिका में ज्यों-ज्यों वैभव बढ़ा है, त्यों-त्यों आचरण (कैरैक्टर) का सत्यानाश हुआ है।

अमेरिका की जनसंख्या है लगभग बीस करोड़। इन बीस करोड़ में से तेरह करोड़ एक वर्ष के भीतर पचास करोड़ बार डॉक्टरों के पास इसलिए आते हैं कि अपना इलाज करा सकें। एक वर्ष में डॉक्टरों ने इन तेरह करोड़ लोगों के लिए जो नुस्खे लिखे उनमें लिखी दवाओं का मूल्य ४८ अरब रुपए था। वैभव की अति होने के कारण यह दशा

तो हुई शरीर की ! और सदाचार के विषय में यही पत्रिका लिखती है कि अमेरिका में प्रत्येक मिनट के भीतर एक तलाक़ होता है, अर्थात् एक वर्ष में ५ लाख २५ हज़ार छः सौ पुरुषों या स्त्रियों ने इतनी ही स्त्रियों अथवा पुरुषों से तलाक़ लिया । इसी पत्रिका ने उन क्लबों की भी चर्चा की है कि जिनका काम ही अनैतिकता फैलाना है । इनसे से एक क्लब का नाम 'वाइफ़ स्वैपिंग क्लब' (Wife Swapping Club) है। इसका अर्थ है—'पत्नी भगाओ क्लब' । इस क्लब का सदस्य उन लोगों को बनाया जाता है जो किसी की पत्नी को भगा लाए हों; दूसरों को सिखाया जाता है कि यह नेक काम करना कैसे चाहिये । विशुद्ध 'वाम मार्ग' आरम्भ कर रक्खा है इन्होंने । इस क्लब के विरुद्ध पुलिस ने मुकद्दमा चलाया तो न्यायालय ने निर्णय दिया कि इस क्लब में जो कुछ होता है वह अनैतिक अवश्य है, परन्तु इससे कानून कोई भंग नहीं हुआ और कानून की दृष्टि से इस क्लब को रोका नहीं जा सकता । यही नहीं, अमेरिकन लोग जो शराब पीते हैं उसके विषय में तो कुछ पूछिये ही मत ! यह पत्रिका लिखती है कि २० करोड़ अमेरिकन एक वर्ष में ६० अरब रुपये की शराब पी गए । इसी पत्रिका में यह भी लिखा है कि मज़हब को माननेवालों की संख्या प्रतिदिन घटती जा रही है; लोग अब मज़हब को पूछते ही नहीं । कई गिरजाघर ख़ाली पड़े रहते हैं ।

यह है धन की अति होने का परिणाम !

इस 'अति' की एक प्रतिक्रिया की उपज वे 'हिप्पी' हैं जो संसारभर में मारे-मारे फिरते हैं ।

मैं बनारस में था । किसी ने बताया कि गंगा के उस पार बहुत-से हिप्पी रहते हैं । मैं भी उन्हें देखने के लिए गया । चित्र-विचित्र आकृतियाँ ! फटे हुए कपड़े ! नवयुवक लड़के, नवयुवती लड़कियाँ ! कितने ही ऐसी दशा में कि देखकर सिर लज्जा से झुक जाता है । कोई गाँजा पी रहा है, कोई अफ़ीम, भाँग, धतूरा, चरस और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ । कई उस 'गोली' को खाकर पड़े हैं कि जिसका आविष्कार अमेरिका में हुआ है और जिसमें अफ़ीम, चरस, भाँग और न जाने क्या-क्या मिलाया जाता है । इनमें से कुछ नवयुवकों से मैंने

वात की। ऑस्ट्रिया के थे एक लड़का-लड़की। दोनों ने बताया कि उनके माता-पिता लखपति हैं; वे हिप्पी बने हैं इसलिए कि वैभव से तंग आ गए हैं, ऊब गए हैं। वे अचेतन (बेहोश) होना चाहते हैं, दरिद्रता में रहना चाहते हैं; धन-दौलत से उन्हें घृणा हो गई है।

यह है वैभव की अतिशयता की प्रतिक्रिया !

आप हिन्दुस्तान में यह दशा आ जाने दीजिए, यहाँ भी यही प्रतिक्रिया होगी। 'हिप्पी-इज़्म' कुछ-कुछ तो यहाँ भी आरम्भ हो गया है। यह 'हिप्पी-इज़्म' क्रमशः यहाँ भी आएगा।

परन्तु धन की 'अति' क्यों होती है ?—लोभ के कारण।

हाँगकाँग चीन का प्रदेश है। परन्तु वहाँ शासन है ब्रिटेन का। आप जानते हैं क्यों ? इस कारण कि हाँगकाँग से चीन सरकार को प्रतिवर्ष १७ करोड़ पौंड अर्थात् ३,४०,००,००,००० रुपए की आय होती है। अर्थात्, लोभवश चीन ने अपने देश का एक भाग ब्रिटेन को सौंप रक्खा है कि ब्रिटेन जैसे भी चाहे, राज करे, हमें ३४० करोड़ रुपए प्रतिवर्ष दे दिया करे। अब बताइये, यह कोई नीति हुई कि धन के लिए देश का एक भाग ही बेच डालो ?

इस लोभ से अधिक बड़ा पाप दूसरा कोई है नहीं। इसीलिए मैंने पिछले दिन भी कहा था, आज भी कहता हूँ—'लोभ पाप का बाप है !'

एक आदमी था बहुत ही बड़ा कंजूस ! उसकी पत्नी बहुत अच्छी थी। साधारणतया पत्नियाँ अच्छी होती हैं, ये पत्ने ही खराबी करते हैं। ये श्रीमान् जी भी अत्यन्त लोभी और अत्यन्त कंजूस थे। यदि कोई साधु घर पर भीख माँगने आ जाता तो ये श्रीमान् जी चिल्लाकर कहते, 'चल बे यहाँ से ! आ जाते हैं मुस्टण्डे, जैसे हम इनके लिए कमाते हैं ! जा दौड़, किसी दूसरे स्थान पर जाकर माँग !'

पत्नी कहती, 'आदमी ग़रीब है; दुःखी है; माँगने आ गया है; हमारे पास इतना है; साथ कोई ले नहीं गया; इसको कुछ दे दो तो हानि क्या है ?'

श्रीमान् जी कहते, 'तू क्या जाने इन बातों को ? इन्हें मेरे घर के समीप भी मत आने देना !'

ऐसे ही समय बीत रहा था। पत्नी दुःखी थी; पति महोदय प्रसन्न कि किसी को कुछ देते नहीं। तब एक दिन ऐसा हुआ कि पति जी महाराज घर पर नहीं थे। एक साधु घर पर आ गया भीख माँगने। उसने अलख जगाई तो पत्नी दौड़ती हुई द्वार पर आ पहुँची। प्रसन्न हुई कि आज पति जी घर पर हैं नहीं; कम-से-कम एक साधु की सेवा करने का तो अवसर मिलेगा! बहुत अच्छी तरह से उसने वयोवृद्ध पूजनीय साधु को खाना खिलाया। साधु तृप्त होकर जाने लगा तो देवी ने कहा, 'महाराज! मेरा एक दुःख है, उसका कोई उपाय बताइये!'

साधु बोला, 'क्या दुःख है, बेटी?'

देवी ने कहा, 'महाराज! मेरे पति अत्यन्त लोभी और कंजूस हैं। किसी को कुछ नहीं देते। किसी को भीख देना भी उन्हें सह्य नहीं है। इनके विषय में क्या करूँ?'

साधु बोला, 'एक काम कर, बेटी! परन्तु पहले यह बता कि तेरे पति तुझे प्यार करते हैं न?'

देवी ने कहा, 'बहुत करते हैं, महाराज!'

साधु बोला—'फिर तू आज एक काम कर। घर में खाना मत बना! चौका साफ़ न कर! जूठे बर्तन ज्यों-के-ज्यों छोड़ दे! चूल्हे में आग मत जला! कहीं कोई सफ़ाई मत कर! कहीं झाड़ू आदि भी मत लगा! बस, एक पलँग पर लेट जा। अपने पति के आने से कुछ देर पहले 'हाय-हाय' करना आरम्भ कर देना। पति आकर पूछे कि क्या हुआ है, तो कहना—बहुत भयानक रोग हो गया है। केवल एक-दो दिन की अतिथि हूँ। इस रोग का केवल एक ही उपचार है और वह कहीं मिलता नहीं। पति पूछे कि क्या उपचार है? तो कहना—एक महात्मा आए थे; वे कह गए हैं कि इस रोग का उपचार केवल 'पाप के बाप' से ही हो सकता है। नहीं तो दो-तीन दिन के भीतर ही अन्त हो जाएगा।'

लो जी! देवी ने ऐसा ही किया। सायं-समय पति महोदय घर आए तो वहाँ की सारी रूपरेखा ही उलट-पुलट! न कहीं झाड़ू दी

गई; न कहीं सफ़ाई ! चूल्हे में आग नहीं; घड़े में पानी नहीं; रसोई में खाना नहीं और पत्नी है कि 'हाय-हाय' कर रही है।

घबराकर पति ने पत्नी से पूछा, 'यह क्या हुआ, भागवान ?'

पत्नी बोली, 'मुझे तो बहुत भयङ्कर रोग लग गया है। बचने की कोई आशा नहीं है। अब तुम किसी दूसरे विवाह का प्रबन्ध कर लो !'

पति जी घबराए; बोले, 'यह क्या कहती हो ? प्रत्येक रोग का उपाय होता है।'

पत्नी बोली, 'उपाय तो इस रोग का भी है। एक महात्मा आए थे। उन्होंने बताया है कि इस रोग के लिए जिस ओषधि की आवश्यकता होती है उसका नाम 'पाप का बाप' है, परन्तु वह मिलती बहुत कठिनाई से है। वह नहीं मिले तो दो दिन के पश्चात्, नहीं तो तीसरे दिन मेरा अन्त हो जाएगा।'

पति ने कहा, 'कहीं से भी मिले, मैं अभी इस दवाई को लेकर आता हूँ।'

दौड़ा-दौड़ा गया बाज़ार में। एक दुकानदार से पूछा, 'क्यों जी, आपके पास पाप का बाप है ?'

दुकानदार ने आश्चर्य से कहा, 'पाप का बाप ? ऐसी दवाई का नाम तो हमने कभी सुना नहीं !'

वह दूसरी दुकान पर गया। वहाँ से भी यही उत्तर मिला।

तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी दुकान पर गया। कई बाज़ारों में घूमा। प्रत्येक स्थान पर यही उत्तर मिला। सायं-समय हो रहा था। पूछता-पूछता वह उसी स्थान पर जा पहुँचा जहाँ बाज़ारी औरतें रहती थीं। वहाँ भी उसने कई दुकानदारों से पूछा, 'क्या आपके पास पाप का बाप है ?'

उस समय ऊपर कोठे पर बैठी एक वेश्या ने उसकी बात सुन ली। उसने ऊपर से आवाज़ दी; बोली, 'ऊपर आ जाओ ! जिस औषध की तुम्हें आवश्यकता है, वह मेरे पास है।'

अब तो ये श्रीमान् जी घबराए। स्वयं तो कुलीन परिवार के, ऊपर वेश्या का घर जो कोठे पर बुला रही है···जाऊँ तो कैसे जाऊँ ?

तभी वेश्या ने दस रुपए का एक नोट दिखाया; बोली, 'ऊपर आ जाओ, यह मिल जाएगा।'

ये महोदय थे लोभी। दस रुपए के लालच में ऊपर चले गए। वेश्या ने इसको देखा तो कहा, 'आज तो मेरे भाग खुल गए। आइये, आराम से बैठिये!'

अब ये बैठने में हिचकिचाने लगे तो वेश्या ने दस रुपए का नोट इनकी जेब में डाल दिया। ये श्रीमान् जी बैठ गए। वेश्या ने कहा, 'आप आए, इतनी कृपा की; कुछ खाना तो खाइये!'

ये महोदय बोले, 'भागवान! यह कैसे हो सकता है? मैं ऊँची जाति का ब्राह्मण; तुम नीच जाति की बाज़ारू औरत; तुम्हारे घर का खाना मैं कैसे खा सकता हूँ?'

उस स्त्री ने पचास रुपये के नोट इनकी जेब में डालते हुए कहा, 'खाना न सही, पानी तो पीजिये!'

ये महोदय पचास रुपए के लालच के कारण बोले, 'हाँ, पानी तो पी सकता हूँ।'

आया पानी। वेश्या ने कहा, 'मैं अपने हाथ से पिलाऊँगी।'

ये महोदय फिर घबराए; बोले, 'तुम्हारे हाथ से कैसे? तुम तो नीच जाति की हो।'

वेश्या ने इनकी जेब में सौ रुपए का नोट रखते हुए कहा, 'पी भी लीजिये न! मैं कहती हूँ।'

और धन के लोभी ये महोदय उसके हाथ का पानी पी भी गए। वह बोली, 'आज तो मेरे जन्म-जन्म के पाप धुल गए। मेरे सभी जन्म सकारथ हो गए। अब यदि आप कृपा करें तो मेरे घर पर थोड़ा खाना भी खा लीजिये!'

वे फिर चौंके और बोले, 'तुम्हारे घर का खाना कैसे खा सकता हूँ? मैं ब्राह्मण हूँ। तुम…'

वेश्या ने इनकी जेब में दो सौ रुपए के नोट डालते हुए कहा, 'मैं नहीं बनाऊँगी, आप स्वयं बना लीजिये। लकड़ी, आटा, सब्ज़ी, सब मैं दिये देती हूँ। आप स्वयं बनाकर मेरे घर पर खाइये; मेरा जीना सफल

हो जाएगा।'

उन श्रीमान् जी ने दो सौ रुपयों के कारण यह भी मान लिया। आटा गूँधने लगे तो गूँधा नहीं गया। वेश्या ने कहा, 'लाओ, मैं गूँध दूँ।' कहकर उसने आटा गूँध दिया।

श्रीमान् जी आग जलाने लगे तो आग जली नहीं। वेश्या ने कहा, 'चलो, मैं जला दूँ।' उसने चूल्हे में आग भी जला दी।

ये महोदय फुलके बनाने लगे तो इनसे बने नहीं। फुलके बनाना जानते नहीं थे। यह तो एक कला है; इसको सीखना पड़ता है।

यहाँ पहले आपको एक चुटकुला सुना दूँ। मैंने अपनी माता जी से फुलके बनाना सीखा। आरम्भ में जो बनाए वे गोल नहीं थे। कहीं रासकन्याकुमारी तो कहीं बंगाल की खाड़ी, कहीं हिमालय की चोटियाँ तो कहीं तराई का इतना पतला प्रदेश कि आर-पार मुँह दिखाई दे। मेरी माता जी ने मुझे सिखाया कि रोटी कैसी भी बने, उसके ऊपर कटोरी रखकर उसे काट दे; वह ठीक गोल हो जाएगी।

परन्तु इस महोदय की माँ ने शायद यह सब इन्हें सिखाया नहीं था। फुलके इनसे बने नहीं। वेश्या ने स्वयं ही फुलके बनाए। सब्ज़ी भी बनाई। बन गया भोजन। थाली में परोसा गया। ये महोदय खाने लगे तो वेश्या ने कहा, 'इतनी बातें मान लीं मेरी, एक बात और मान लो ! मैं अपने हाथ से आपको खाना खिलाऊँगी।'

ये महोदय चिल्ला उठे, 'नहीं-नहीं ! भला यह कैसे हो सकता है ? तुम बाज़ारू औरत, मैं इतनी ऊँची जाति का ब्राह्मण ! तुम्हारे हाथ से खाना कैसे खा सकता हूँ ?'

वेश्या ने तीन सौ रुपए के नोट उनकी जेब में डालते हुए कहा, 'अब तो मान जाओ ! मुझे अपने हाथ से खिलाने दो !'

वह महोदय बोले, 'यदि इसमें ही तुम्हारी प्रसन्नता है तो चलो खिलाओ।'

वेश्या ने एक ग्रास उठाया। परन्तु इनके मुँह में न डालकर ग्रास को नीचे गिराकर पूरे बल से एक तमाचा इनके मुँह पर दे मारा और चीखकर बोली, 'यह है पाप का बाप ! धन के लालची ! इसी लालच

के कारण तुम वह प्रत्येक बात करने को तैयार हुए जिसे तुम बुरा समझते थे, और जिसे करना नहीं चाहते थे।'

यह है लोभ का परिणाम ! इसके लिए लोग बेटियाँ बेच देते हैं; धर्म बेच देते हैं; विवेक बेच देते हैं; देश बेच देते हैं। लोभ के कारण ऐसे-ऐसे भयानक काम करते हैं कि सुनकर-देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु यह लोभ केवल रुपए-पैसे का ही नहीं, 'चौधराहट' का भी होता है।

अब अमेरिका और रूस को देखो ! दोनों की चौधराहट के लिए दौड़ लगी हुई है। इस दौड़ में आज अमेरिका आगे है, क्योंकि इसने संसार पर अपना आतंक बैठाने के लिए दो आदमी चाँद पर उतार दिये; छः खरब रुपया व्यय कर दिया इस बात के लिए। सौ लाख का एक करोड़ होता है; सौ करोड़ का एक अरब; सौ अरब का एक खरब···और अमेरिका ने इसके लिए छः खरब रुपया इस हेतु व्यय कर दिया कि चाँद तक तो मानव को पहुँचा सके। इसी अमेरिका में 'अवेक' (Awake) पत्रिका के अनुसार बीस करोड़ मनुष्यों में से एक करोड़ मनुष्य भूखे और ग़रीब हैं जिन्हें पेट-भर खाना नहीं मिलता। उनकी दशा सुधारने के लिए ये छः खरब रुपये व्यय करता तो बहुत बड़ी समस्या हल हो जाती। यह तो किया नहीं; दो मनुष्यों को चाँद तक पहुँचाने के लिए छः खरब रुपया व्यय कर दिया। यह है चौधराहट का लालच ! परन्तु लोभ-लालच किसी भी बात का हो—धन का, चौधराहट का, बल का, कुर्सी का, या किसी भी दूसरी वस्तु का, इससे भला तो कभी होता नहीं। लोभ के कारण भाई ही भाई का शत्रु बन जाता है, बाप बेटे का, बेटा बाप का।

ये बातें मैं कल बता रहा था।

लो जी ! दो दिन तो यह धन ही ले गया, मुझे कहना है अभी बहुत-कुछ। परन्तु क्या करें जी ! दो दिन ही क्यों, यह धन तो सारा जीवन ही ले जाता है, फिर भी इसकी कहानी पूरी नहीं होती। यह आपका पटेल नगर है न, यहीं एक सज्जन रहते हैं। बरसों उन्होंने नौकरी की। रिटायर हो गए। परन्तु रिटायर होने के पश्चात् भी

कमाने की लालसा शान्त नहीं हुई। 'रिटायर' होने के पश्चात् भी 'रि-टायर' (Re-tyre) होने के यत्न करते फिरते हैं। एक नौकरी छोड़ी; अब दूसरी खोज रहे हैं। मोटर के पहले टायर घिस जाने के पश्चात् जैसे उन्हें रि-टायर (Re-tyre) किया जाता है, नए टायर लगाए जाते हैं, ऐसे ही वह नए 'टायर' लगाने की चिन्ता में हैं। वह भूल गये कि धन कमाने की आयु २५ से ५० वर्ष तक है। २५ वर्ष तक खूब धन कमाओ! खूब खर्च करो! यह तुम्हारा धर्म है। ईश्वर इसकी अनुमति देता है। वेद इसकी अनुमति देता है। परन्तु इन पच्चीस वर्षों के पश्चात् आगे की सोच भाई! यहाँ तुमको रहना नहीं है; जाना है आगे। २५ वर्ष तक माया का खेल खेला, अब इस ठगिनी माया के जाल से बाहर आने की बात सोच भाई!

माया तो ठगिनी भई, ठगत फिरत सब देस।
जा ठग ने माया ठगी, ता ठग को आ देस॥

अरे! यह माया, यह धन-दौलत, सम्पत्ति, यह सब तो ठगिनी है। किस युग में, किस समय, किस देश में इसने किसको नहीं ठगा? धन्य है वह ठग जो इस ठगिनी को ठग ले, इससे पीछा छुड़ा ले!

तो पीछा छुड़ाने का समय है पचास वर्ष के पश्चात् की आयु। इस आयु में मानव को जीवन की सफलता के लिए यत्न करना चाहिये। उस लक्ष्य के लिए यत्न होना चाहिये जिसके लिए मानव-जीवन मिला है। इससे पहले भी होना चाहिये, परन्तु इसके पश्चात् तो अवश्य होना चाहिये। मानव-जीवन की सफलता के लिए आवश्यक हैं—तन-बल अर्थात् शारीरिक बल, आत्मिक बल और सामाजिक बल।

शारीरिक बल के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं—आहार अर्थात् भोजन, नींद और ब्रह्मचर्य।

आहार या भोजन वह धन है जो आपके शरीर के लिए लाभदायक हो, इसके अनुकूल हो। आपको खाँसी है, गला खराब है, छाती में पीड़ा है, साँस ठीक प्रकार से आती नहीं। इस अवस्था में आप इमली या मिर्चोंवाली चाट खाना आरम्भ कर दें तो इसके अतिरिक्त और क्या परिणाम होगा कि आप और भी अधिक रोगी हो जायँ, शरीर

पहले से अधिक बिगड़ जाय। ऐसे व्यक्तियों के लिए कहा जाता है—'खाओ चाट, पड़ो खाट!' परन्तु ऐसी पुरानी, अत्यन्त प्राचीन बातों को सुनता कौन है! लोग अचार, चटनी, चाट, गोलगप्पे, रसगुल्ले, रसमलाई, सन्देश, समोसे, पूरी, कचौरी, सबका लालच करके खाते जाते हैं; फिर रोगी होते हैं तो चिल्लाते हैं। याद रक्खो, हमारा देश हो या कोई दूसरा देश, कहीं भी लोग भूख से नहीं मरते; अधिक खाने से मरते हैं।

मैं एक बार लखनऊ गया। गाड़ी आने के समय से बहुत पहले रेलवे-स्टेशन पर पहुँच गया। यह मेरी पुरानी आदत है। शायद उस गाँव के कारण है जहाँ मेरा जन्म हुआ था। गाँव था रेलवे-स्टेशन से आठ मील दूर। उस युग में मोटरें या बसें होती नहीं थीं। गाड़ी में सवार होना होता था तो गाँव के आदमी सब सामान लेकर एक दिन पहले ही स्टेशन पर पहुँच जाते थे। गाड़ी का कोई पता है कि कब आ जाय? मैं भी अपने गाँववालों के समान हूँ। हाँ, एक दिन पहले रेलवे-स्टेशन पर नहीं पहुँचता, गाड़ी आने के समय से बहुत पहले पहुँच जाता हूँ। लखनऊ रेलवे-स्टेशन पर भी पर्याप्त समय पहले पहुँच गया। दूसरा कोई काम था नहीं, इसलिए बुक-स्टाल पर जाकर पुस्तकें देखने लगा। वहाँ एक पुस्तक देखी जो अंग्रेज़ी भाषा में थी; नाम था—'पतियों की हत्यारिन' (Murderess of Husbands)। मैंने समझा कोई उपन्यास होगा। पूछने पर पता लगा—उपन्यास नहीं है, चिकित्सा-विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक है। मैंने पुस्तक खरीद ली; पढ़ी। इसकी एक बात मैं कभी भूल नहीं सका कि जो पत्नियाँ अपने पतियों को उनके शरीरों की आवश्यकता से अधिक खिलाती हैं, वे उनकी हत्यारिन हैं।

पत्नी ने खाना बनाया। पति महोदय आए; खा लिया जितनी उन्हें भूख थी।

परन्तु पत्नी जी हठ कर रही हैं, 'अभी और खाओ न! यह वस्तु तो मैंने विशेष रूप से स्कूल में सीखी है। डबल रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े करके इन्हें क्रीम में भिगोया है और फिर 'ओवन' में पकाया है; तब बादाम, पिस्ता, इलाइची को बारीक पीसकर इनपर छिड़क दिया

है। फिर चीनी में अमुक-अमुक सुगन्ध डालकर इसे बनाया है। सबके पश्चात् सन्तरे का रस ठंडा और सख्त करके इसपर डाल दिया है। खाकर तो देखो, कितनी स्वादु है !'

पति कहता है, 'भली लोग ! अब तो पेट में रत्ती-भर भी स्थान नहीं है।'

परन्तु पत्नी आग्रह कर रही है, 'कुछ तो खाओ !'

पति महोदय खा लेते हैं। रोगी हो जाते हैं। रुग्णावस्था लम्बी चले तो मर भी जाते हैं। ऐसी पत्नियाँ अपने पति की घातक बन जाती हैं। और लोग तो घृणा व द्वेष के कारण हत्या करते हैं, पर ये प्यार के कारण ही हत्या कर बैठती हैं।

यह उपयुक्त भोजन नहीं है। भगवान् कृष्ण ने कहा था—

'युक्ताहार-विहारस्य युक्तकर्मसु चेष्टया।'

'उचित भोजन करो ! उचित व्यवहार करो ! उचित कर्म करो !' हम भगवान् कृष्ण का नाम तो बहुत लेते हैं, उनकी पूजा भी बड़े उत्साह से करते हैं; परन्तु उनकी बात को मानते नहीं हैं।

उचित भोजन करने का अभिप्राय तो यह है कि यदि चार रोटी की भूख है तो दो रोटी खाओ; एक रोटी का स्थान पानी के लिए और एक रोटी का स्थान वायु के लिए छोड़ दो। ऐसा करोगे तो रोग कभी आयेगा नहीं। परन्तु हम करते हैं यह कि स्थान तो होता है चार रोटियों का, चार खाने के पश्चात् पाँचवीं इसलिए खाते हैं कि चटनी बहुत स्वाद है; छठी इसलिए खाते हैं कि अचार बहुत अच्छा है; सातवीं इसलिए खाते हैं कि गोभी का, आलू का, चने का पराँठा बहुत अच्छा बना है। अब भला ऐसे आदमी के स्वास्थ्य का बनेगा क्या ? इंजन चला तो सकता है रेल के दस डिब्बे, पर इसके साथ बाँध देते हैं तीस डिब्बे। अब यह गाड़ी चलेगी कैसे ?

मोटर होती है न, उसकी टंकी में स्थान है पचास लिटर पैट्रोल का। यदि आप उसमें अधिक पैट्रोल डाल दें तो दो ही बातें हो सकती हैं—या तो यह कि पैट्रोल बाहर बिखर जाय, या यह कि इंजन में अधिक पहुँच जाय और गाड़ी ठप्प हो जाय। मानुषी देह की भी यही

दशा है। जितनी टंकी है, भाई, उससे कुछ कम पैट्रोल डालो, नहीं तो इंजन बिगड़ जायेगा। मैं भिखारी हूँ न, कई लोगों के यहाँ भिक्षा के लिए जाता हूँ। खिलानेवाले जब अधिक खिलाने का यत्न करते हैं तो कहता हूँ, 'मेरी टंकी भर गई, भाई ! अधिक के लिए स्थान नहीं।' वे दबाव डालते हैं, मैं टंकी की बात कहता रहता हूँ।

मैं गत वर्ष लन्दन में था। कथा करता था। कथा में लन्दन के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'डेली टेलीग्राफ़' के संवाददाता भी आते थे। एक दिन वे मेरे पास आए; बोले, 'स्वामी जी ! आपसे कुछ बातें पूछना चाहता हूँ।'

मैंने कहा, 'पूछिये !'

वह बोले, 'सबसे पहले तो यही बताइये कि आपकी आयु कितनी है?'

मैंने हँसते हुए पूछा, 'आपके विचार से कितनी होनी चाहिये ?'

वह सोचते हुए बोले, 'अधिक-से-अधिक ६५ वर्ष।'

मैंने हँसते हुए कहा, '६१ वर्ष का तो मेरा बड़ा लड़का रणवीर है। चार वर्ष की आयु में यह मेरा बेटा कैसे हो गया ? मेरी आयु ८५ वर्ष है।'

वे आश्चर्य से बोले, 'कमाल है ! आप खाते क्या हैं ?'

मैंने कहा, 'खाना खाता हूँ।'

वे बोले, 'मांस ?'

मैंने कहा, 'नहीं।'

वे बोले, 'अण्डा ?'

मैंने कहा, 'नहीं।'

वे बोले, 'मछली ?'

मैंने कहा, 'नहीं।'

वे बोले, 'ब्राण्डी ?'

मैंने हँसते हुए कहा, 'वह भी नहीं।'

वे बोले, 'तब आप जीते कैसे हैं ?'

मैंने हँसते हुए कहा, 'सब्ज़ी, दाल और रोटी खाकर और वह भी

उतनी ही खाकर जितनी मेरे लिए आवश्यक है, अतिरिक्त नहीं ।'

तो यह बात है, मेरे भाई ! अधिक खाने से शक्ति नहीं मिलती । उतना खाने से शक्ति मिलती है, जितना आप पचा सकते हैं । थोड़ा खाइये ! उचित खाइये ! इस चटोरी जीभ के लिए और इसके स्वाद के लिए मत खाइये ! अपनी आवश्यकता देखकर खाइये ! पंजाबी भाषा में एक कहावत है—

जो पिट्टी सो स्वादाँ पिट्टी ।

स्वाद के कारण ही सत्यानाश होता है । मैं यह नहीं कहता कि बेस्वाद वस्तुएँ खाओ । परन्तु ऐसी वस्तुएँ खाइये जो आपके शरीर के लिए लाभदायक हैं । यदि कोई वस्तु आपके शरीर के लिए लाभदायक नहीं है, तो उसका स्वाद कितना ही अच्छा क्यों न हो, मत खाइये उसको ! मैं यह नहीं कहता कि खराब स्वाद की वस्तु खाइये और जान-बूझकर अपने मुँह का स्वाद बिगाड़िये और फिर मुझे कोसते रहिए कि अच्छा आया था एक स्वामी, हमें एक विपद् में फँसा गया । परन्तु, यह तो देखकर खाइये कि जो कुछ आप खाते हैं उससे आपके शरीर को लाभ होता है या नहीं ? लाभ पहुँचता है तो अवश्य खाओ, नहीं पहुँचता हो तो निरे स्वाद ही के लिए मत खाओ !

यह हुई आहार अथवा भोजन की बात !

शरीर के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु है नींद । पैसा नहीं लगता इसमें, धेला नहीं लगता, कौड़ी नहीं लगती । अनमोल वस्तु है यह । लाखों रुपया व्यय करें, तब भी नहीं मिलती । मिलती है तो बिना मूल्य के ही मिलती है । थक गये आप; पाँव थक गए; हाथ थक गए; शरीर थक गया; मस्तिष्क थक गया; तब सो जाते हैं । केवल तीन वस्तुएँ जागती हैं—एक मन, दूसरा प्राण और तीसरा आत्मा ।

और यह मन बिना ईंटों के, बिना लोहे के, बिना ग़ारे के अद्भुत मकान बनाता है; अनेक स्थानों की सैर करता है; कहीं तूफ़ान जगाता है, कहीं आग लगाता है, कहीं रेलगाड़ियों और मोटरों की टक्करें करा देता है; कहीं वायुयान में उड़ता है, कहीं वायुयानों को

गिराता भी है; अपना संसार आप ही बनाता है और फिर आप ही बिगाड़ता भी है।

मैं लाहौर में रहता था, तब एक रात आर्यसमाज की छत पर सोया। सोए-सोए सपना देखा कि कलकत्ता पहुँच गया हूँ, बड़ा बाज़ार में जा रहा हूँ, बाईं ओर के पैदल मार्ग पर। तभी देखा कि दाईं ओर के पैदल मार्ग पर एक मित्र गुप्ता जी जा रहे हैं। मैंने उन्हें पुकारा।

वे उधर से ही पुकारकर बोले, 'अरे! खुशहालचन्द, कब आए?'

मैं बोला, 'अभी आकर बताता हूँ।'

वे बोले, 'सँभलकर आना इधर! सड़क पर मोटरें बहुत आ रही हैं।'

मैंने जल्दी-जल्दी सड़क पार करने की कोशिश की तो उधर से एक मोटर आ गई। मोटर ऊपर और मैं नीचे। टाँग टूट गई।

मैं ऊँचे स्वर में चीखा और अपनी चीख की आवाज़ से जाग गया। नींद खुली तो देखा कि न कलकत्ता है, न बड़ा बाज़ार, न मोटर है, न टूटी हुई टाँग। बस, मैं हूँ और आर्यसमाज की छत पर बिछी चारपाई है।

सो ऐसा करता है मन! परन्तु वह भी सो जाता है। केवल प्राण जागता है; आत्मा जागता है। आदमी ऐसी गहरी नींद में खो जाता है जिसे 'योग-दर्शन' में 'सुषुप्ति' कहा गया है। यह है वास्तविक नींद! ऐसी नींद से उठने पर आदमी कहता है, 'आज तो बड़ी मीठी नींद आई!'

परन्तु क्यों जी! आप तो सोए हुए थे; इन्द्रियाँ सोई हुई थीं; ज्ञानेन्द्रियाँ सोई हुई थीं; मस्तिष्क सोया हुआ था; मन सोया हुआ था; फिर यह स्वाद किसको आया?

यह आत्मा को आत्मा का आनन्द है।

यह एक नमूना है जिसे भगवान् प्रतिदिन यह बताने के लिए दिखाते हैं कि जब आत्मा, आत्मा में खो जाता है तब कैसा आनन्द आता है। यह वास्तविक नींद आती किसको है? उसको, जिसको टैक्स देने की चिन्ता नहीं, जिसको इस बात की चिन्ता नहीं कि टैक्स

में जो चोरी की है उसका किसी को पता न चल जाय ! काला धन जो रेडियो के बक्स में छिपा रक्खा है उसका किसी को पता न लग जाय ! अमुक व्यक्ति को फँसाने के लिए जो झूठ बोला है, उसकी पोल न खुल जाय ! जिसके मन में ऐसी कोई चिन्ता है, उसको यह नींद कहाँ से आएगी ! जो व्यक्ति आमदनी से अधिक खर्च करता है और ऋण की पीड़ा से चिन्तित रहता है, उसके लिए यह चैन की नींद कहाँ है ! जिसने किसी रसीद आदि के बिना ही अपना काला रुपया उधार दे रक्खा है, उसको यह नींद कहाँ से आएगी ! और यह काला धन्धा करनेवाले (भगवान् बचाए इनसे) ऐसे-ऐसे अत्याचार करते हैं कि जिन्हें सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक महोदय मुझसे मिले। मैंने पूछा, 'क्या करते हैं आप ?'

वे बोले, 'कुछ नहीं, ज़रूरतमन्दों की ज़रूरतें पूरी करता हूँ।'

मैंने कहा, 'यह तो बहुत अच्छा काम करते हो तुम। ज़रूरतमन्दों की ज़रूरतें पूरी करना तो बड़ा नेक काम है।'

वे बोले, 'आज ही एक व्यक्ति को सौ रुपए देकर आया हूँ। वह छोटी-सी दुकान चलाना चाहता था; पैसा उसके पास था नहीं।'

मैंने कहा, 'तुम तो बहुत अच्छे आदमी हो, भाई ! परन्तु अपने रुपए का कुछ व्याज भी लेते होगे आप ?'

वह बोला, 'सामान्य आदमी से तो एक रुपया लेता हूँ; इस आदमी को बहुत अधिक आवश्यकता थी; इससे तीन रुपए लूँगा।'

मैंने कहा, 'वर्ष-भर में सौ रुपए का तीन रुपए व्याज़ ? यह तो बहुत अच्छा करते हो तुम।'

वह बोला, 'वर्ष-भर का नहीं, स्वामी जी ! एक दिन का !'

मैंने चौंककर कहा, 'एक दिन का तीन रुपए व्याज़ !' हिसाब लगाकर मैंने देखा और क्रोधपूर्वक कहा, 'यह तो वर्ष-भर में एक सौ रुपए का एक हज़ार पचानवे रुपए व्याज़ बनता है, अर्थात् जितना तुमने दिया उससे बारह गुणा लौटाकर लोगे ?'

वह बोला, 'उसकी आवश्यकता भी तो पूरी होती है !'

मैंने कहा, 'धिक्कार है तुम्हारे इस प्रकार आवश्यकता पूर

पर ! तुम तो लोगों को लूटते हो। तुम्हें नींद कैसे आती होगी?'

वह बोला, 'नींद नहीं आती स्वामी जी ! यह चिन्ता रहती है कि व्याज़ कहीं मूलधन लेकर ही चम्पत न हो जाय !'

ऐसे लोगों को सचमुच नींद नहीं आती; और जो लोग ऐसे लोगों से ऋण लेते हैं, उनको भी नींद नहीं आती। पाँव उतना ही फैलाना चाहिए जितनी चादर हो।

अकबर के दरबार में एक कारीगर एक बहुत सुन्दर चादर बनाकर लाया। बादशाह ने लेटकर वह ओढ़ी तो बादशाह के सामने एक विपदा-सी खड़ी हो गई। सिर ढक जाय तो पाँव नंगे और पाँव ढक जायँ तो सिर नंगा। कई लोगों ने कई प्रकार से बादशाह को चादर उढ़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु पूरी नहीं आई। तभी बीरबल जी आए; बोले, 'यह क्या हो रहा है, महाराज?'

सम्राट् ने कहा, 'यह चादर हमें बहुत पसन्द है, परन्तु छोटी है; ओढ़ने में पूरी नहीं आती।'

बीरबल हँसकर बोले, 'यह तो मैं अभी किये देता हूँ। आप पाँव सिकोड़कर लेटिये जैसे बच्चे लेटते हैं।'

बादशाह ने वैसा ही किया। बीरबल ने चादर उढ़ा दी जो पूरी आ गई; पाँव भी ढक गए, सिर भी।

तो भाई, जितनी चादर हो उतने पाँव फैलाओ। मत यह देखो कि तुम्हारे पड़ोसी के घर में ट्रांज़िस्टर है तो तुम्हारे घर में भी होना चाहिये। पड़ोसी के घर टेलिविज़न है तो तुम्हारे भी टेलिविज़न के बिना भोजन पचेगा नहीं, चाहे उसे उधार या किस्तों पर ही क्यों न लेना पड़े। हमारे बाप-दादा टेलिविज़न और इसी प्रकार की दूसरी वस्तुओं के बिना सुख से रहते रहे हैं तो हम भी रह सकते हैं। यह तो मन को समझाने की बात है।

एक वृद्धा देवी मुझसे मिली; बोली, 'स्वामी जी ! आप भी कैसी बातें कहते हैं ! रेडियो न हो, ट्रांज़िस्टर न हो, एअर-कंडीशनर न हो, कूलर न हो, टेलिविज़न न हो, तो नाक कट जाती है।'

मैंने हँसते हुए कहा, 'नाक तो नहीं कटती, माँ ! ऋण लेकर ये

वस्तुएँ लो तो नींद अवश्य कट जाती है।'

यह चिन्ता और चाहना—दो ही विपदाएँ हैं आदमी के लिए। ये दोनों न रहें तो आदमी बादशाह हो जाता है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, वह शाहनपति शाह॥

कितना सुगम नुस्खा है सम्राट् बनने का ! तुम भी बनो न ! परन्तु तुम तो चाहना से, लालसा से चिमटकर उस नींद को भी गँवा बैठे, जिससे अधिक मूल्यवान् कुछ भी नहीं है।

किसी की शब रोते कटी है,
किसी की शब सोते कटी है।
हमारी यह शब, शब है ऐसी,
न सोते कटी है, न रोते कटी है।

बस, चिन्ता में कटी है, करवट बदलते-बदलते। कुछ भाई कहते हैं—'स्वामी जी ! तुम तो हो गए साधु। घर-बार की कोई चिन्ता है नहीं। हम हैं गृहस्थ, हम चिन्ता को कैसे छोड़ दें ?' मैं मानता हूँ कि गृहस्थ को चिन्ता होती है, परन्तु कभी तो इससे छुटकारा प्राप्त करो !

चिन्ता चिता से है बड़ी, चिन्ता बुरी बलाय।
चिता जलाए आग में, चिन्ता बिन आग जलाय॥

तुम क्यों जलते हो इस बिन आग की चिन्ता में ? रात को सोने का समय हो तो चिन्ताओं को कहो, तुम्हारा समय समाप्त हो गया; अब हमारा सोने का समय है। तुम कल प्रातः आना; कल फिर तुमसे साक्षात्कार होगा।' इस प्रकार चिन्ताओं को दूर करके सो जाओ। तभी वह नींद मिलेगी जो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक है।'

रणवीर ने इस चिन्ता के विषय में एक बार पंडित जवाहरलाल नेहरू का एक बड़ा रोचक प्रसंग सुनाया। चीनियों ने हमारे देश पर आक्रमण किया तो सारे देश को चिन्ता हो गई। रणवीर एक दिन पंडित जवाहरलाल जी को मिलने गया। रणवीर भी चिन्तित था। थोड़ी चिन्ता में नहीं, बहुत अधिक चिन्ता में। चिन्ता के कारण वह

रातभर सो नहीं पाया। पंडित जी ने
चेहरा देखा तो बोले, 'क्या हुआ तुम्हें
रणवीर ने कहा, 'रोगी तो नहीं,
सका।'

पंडित जी ने पूछा, 'सोए क्यों नहीं

रणवीर ने कहा, 'चिन्ता के कारण
हमारे देश पर आक्रमण कर दिया है। यदि
कर दिया तो हम करेंगे क्या? देश का बचे

पंडित जी बोले, 'हिन्दुस्तान का प्रधान

रणवीर ने कहा, 'प्रधानमंत्री तो आप हैं

पंडित जी बोले, 'मुझे तो कोई चिन्ता हुई
समझ के अनुसार पूरी शक्ति से काम करता हूँ
कर चैन से सो जाता हूँ कि मैंने अपना कर्त्तव्य
त्रुटि नहीं आने दी; आगे जो होगा, देखा जाए
करो। दिनभर साहसपूर्वक काम करो, जो कर
उठाकर, पसीना बहाकर भी पूरा करो। और फिर
के साथ सो जाओ कि तुमने जान-बूझकर कोई ग़ल

तो यह है चिन्ता दूर करने की विधि! का
करो! कर्त्तव्य का पालन करो! परन्तु जब सोने
चिन्ताओं को साथ लेकर मत सोओ! नींद सदा अके
यदि कोई दूसरा तुम्हारे साथ है और तुमसे बातें किये
आएगी नहीं।

शरीर के लिए अनुकूल तीसरी आवश्यक वस्तु है
जो कुछ खाते और पीते हैं, वह सब पेट की भट्टी में पहु
बनता है; उससे रस निकलता है; वह रस रक्त में प
है; रक्त चर्बी में परिवर्तित होता है और चर्बी हड्डी में
हड्डी के भीतर मग्ज़ बनती है, जिसको संस्कृत में 'मज्जा'
इस मज्जा से वीर्य बनता है; तब वीर्य से वह 'ओज' और 'ते
है जिससे मनुष्य का चेहरा चमक उठता है; उसकी बुद्धि का

है। यह वह सार पदार्थ है जो कई पड़ावों से होता हुआ उस भोजन से बनता है, जिसके लिए मनुष्य दिन-भर दौड़धूप करता है।

इस सार पदार्थ—इत्र को सँभालकर रखा जाय तो मनुष्य बुढ़ापे में भी युवा बना रहता है और युवकों के समान काम करता है। इस इत्र को सँभालकर रखने का नाम है 'ब्रह्मचर्य'।

गृहस्थ कहते हैं कि ऐसा ब्रह्मचर्य हमसे होगा कैसे ?

महर्षि दयानन्द ने ऐसे लोगों के लिए 'मनुस्मृति' के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए कहा है कि 'जो गृहस्थ नियम के अनुसार और ऋतु के अनुकूल अपनी गृहस्थी चलाता है, वह भी ब्रह्मचारी ही है।'

देखो भाई ! विवाह करा लेने का यह अभिप्राय नहीं है कि अपना और अपनी पत्नी का सत्यानाश करो। विधिपूर्वक तथा संयम से बरतोगे तो अधिक देर तक सुखी रहोगे; अधिक आराम से जीवन व्यतीत करोगे।

विवाह-संस्कार के समय वधू विवाह-मण्डप में बैठे हुए लोगों को सम्बोधित करती हुई कहती है—

रातभर सो नहीं पाया। पंडित जी ने इसका उदास और उतरा हुआ चेहरा देखा तो बोले, 'क्या हुआ तुम्हें ? रोगी हो क्या ?'

रणवीर ने कहा, 'रोगी तो नहीं, परन्तु मैं आज रातभर सो नहीं सका।'

पंडित जी ने पूछा, 'सोए क्यों नहीं ?'

रणवीर ने कहा, 'चिन्ता के कारण। चीन ने हमें धोखा देकर हमारे देश पर आक्रमण कर दिया है। यदि पाकिस्तान ने भी आक्रमण कर दिया तो हम करेंगे क्या ? देश का बनेगा क्या ?'

पंडित जी बोले, 'हिन्दुस्तान का प्रधानमंत्री मैं हूँ या तुम हो ?'

रणवीर ने कहा, 'प्रधानमंत्री तो आप हैं।'

पंडित जी बोले, 'मुझे तो कोई चिन्ता हुई नहीं। मैं दिन-भर अपनी समझ के अनुसार पूरी शक्ति से काम करता हूँ और रात को यह सोच-कर चैन से सो जाता हूँ कि मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है; इसमें त्रुटि नहीं आने दी; आगे जो होगा, देखा जाएगा। तुम भी ऐसे ही करो। दिनभर साहसपूर्वक काम करो, जो कर्त्तव्य है, उसको कष्ट उठाकर, पसीना बहाकर भी पूरा करो। और फिर रात को इस विश्वास के साथ सो जाओ कि तुमने जान-बूझकर कोई ग़लत बात नहीं की।'

तो यह है चिन्ता दूर करने की विधि ! काम करो ! परिश्रम करो ! कर्त्तव्य का पालन करो ! परन्तु जब सोने का समय आए तो चिन्ताओं को साथ लेकर मत सोओ ! नींद सदा अकेले को आती है। यदि कोई दूसरा तुम्हारे साथ है और तुमसे बातें किये जाता है तो नींद आएगी नहीं।

शरीर के लिए अनुकूल तीसरी आवश्यक वस्तु है ब्रह्मचर्य। हम जो कुछ खाते और पीते हैं, वह सब पेट की भट्टी में पहुँचकर मलीदा बनता है; उससे रस निकलता है; वह रस रक्त में परिवर्तित होता है; रक्त चर्बी में परिवर्तित होता है और चर्बी हड्डी में बदलती है; हड्डी के भीतर मग्ज़ बनती है, जिसको संस्कृत में 'मज्जा' कहते हैं। इस मज्जा से वीर्य बनता है; तब वीर्य से वह 'ओज' और 'तेज' बनता है जिससे मनुष्य का चेहरा चमक उठता है; उसकी बुद्धि काम करती

है। यह वह सार पदार्थ है जो कई पड़ावों से होता हुआ उस भोजन से बनता है, जिसके लिए मनुष्य दिन-भर दौड़धूप करता है।

इस सार पदार्थ—इत्र को सँभालकर रक्खा जाय तो मनुष्य बुढ़ापे में भी युवा बना रहता है और युवकों के समान काम करता है। इस इत्र को सँभालकर रखने का नाम है '**ब्रह्मचर्य**'।

गृहस्थ कहते हैं कि ऐसा ब्रह्मचर्य हमसे होगा कैसे ?

महर्षि दयानन्द ने ऐसे लोगों के लिए 'मनुस्मृति' के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए कहा है कि 'जो गृहस्थ नियम के अनुसार और ऋतु के अनुकूल अपनी गृहस्थी चलाता है, वह भी ब्रह्मचारी ही है।'

देखो भाई ! विवाह करा लेने का यह अभिप्राय नहीं है कि अपना और अपनी पत्नी का सत्यानाश करो। विधिपूर्वक तथा संयम से बरतोगे तो अधिक देर तक सुखी रहोगे; अधिक आराम से जीवन व्यतीत करोगे।

विवाह-संस्कार के समय वधू विवाह-मण्डप में बैठे हुए लोगों को सम्बोधित करती हुई कहती है—

'शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्'

'मैं कल्याण के लिए, सुख के लिए, पति के घर को जाती हूँ।'

वह यह तो नहीं कहती कि मैं रोगिणी होने के लिए, हर घड़ी खाट पर पड़ी रहने के लिए जाती हूँ। और कल्याण का मार्ग है—ब्रह्मचर्य।

परन्तु शरीर को ठीक रखने के लिए इन तीन वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ और करना भी आवश्यक है।

सबसे पहली बात यह है कि अपने-आपको प्रसन्न रक्खो। व्यर्थ ही हर घड़ी रोते-धोते मत रहो। यह एक प्रकार का मानसिक तप है। इसके लिए मन को तैयार करना पड़ता है कि इसे दुःखी नहीं होने देना। यह संसार है न, इसमें कष्ट, क्लेश, दुःख, विपत्तियाँ आदि तो आती ही रहती हैं। परन्तु ये जैसे आती हैं, वैसे ही चली भी जाती हैं। दुःख है, कष्ट है, तो उसको दूर करने का यत्न अवश्य करो, परन्तु मन को प्रसन्न रखते हुए करो !

कई सुधारक-जाति के लोग होते हैं। उन्हें संसार का दुःख ही

रातभर सो नहीं पाया। पंडित जी ने इसका उदास और उतरा हुआ चेहरा देखा तो बोले, 'क्या हुआ तुम्हें ? रोगी हो क्या ?'

रणवीर ने कहा, 'रोगी तो नहीं, परन्तु मैं आज रातभर सो नहीं सका।'

पंडित जी ने पूछा, 'सोए क्यों नहीं ?'

रणवीर ने कहा, 'चिन्ता के कारण। चीन ने हमें धोखा देकर हमारे देश पर आक्रमण कर दिया है। यदि पाकिस्तान ने भी आक्रमण कर दिया तो हम करेंगे क्या ? देश का बनेगा क्या ?'

पंडित जी बोले, 'हिन्दुस्तान का प्रधानमंत्री मैं हूँ या तुम हो ?'

रणवीर ने कहा, 'प्रधानमंत्री तो आप हैं।'

पंडित जी बोले, 'मुझे तो कोई चिन्ता हुई नहीं। मैं दिन-भर अपनी समझ के अनुसार पूरी शक्ति से काम करता हूँ और रात को यह सोचकर चैन से सो जाता हूँ कि मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है; इसमें त्रुटि नहीं आने दी; आगे जो होगा, देखा जाएगा। तुम भी ऐसे ही करो। दिनभर साहसपूर्वक काम करो, जो कर्त्तव्य है, उसको कष्ट उठाकर, पसीना बहाकर भी पूरा करो। और फिर रात को इस विश्वास के साथ सो जाओ कि तुमने जान-बूझकर कोई ग़लत बात नहीं की।'

तो यह है चिन्ता दूर करने की विधि ! काम करो ! परिश्रम करो ! कर्त्तव्य का पालन करो ! परन्तु जब सोने का समय आए तो चिन्ताओं को साथ लेकर मत सोओ ! नींद सदा अकेले को आती है। यदि कोई दूसरा तुम्हारे साथ है और तुमसे बातें किये जाता है तो नींद आएगी नहीं।

शरीर के लिए अनुकूल तीसरी आवश्यक वस्तु है ब्रह्मचर्य। हम जो कुछ खाते और पीते हैं, वह सब पेट की भट्टी में पहुँचकर मलीदा बनता है; उससे रस निकलता है; वह रस रक्त में परिवर्तित होता है; रक्त चर्बी में परिवर्तित होता है और चर्बी हड्डी में बदलती है; हड्डी के भीतर मग्ज़ बनती है, जिसको संस्कृत में 'मज्जा' कहते हैं। इस मज्जा से वीर्य बनता है; तब वीर्य से वह 'ओज' और 'तेज' बनता है जिससे मनुष्य का चेहरा चमक उठता है; उसकी बुद्धि काम करती

है। यह वह सार पदार्थ है जो कई पड़ावों से होता हुआ उस भोजन से बनता है, जिसके लिए मनुष्य दिन-भर दौड़धूप करता है।

इस सार पदार्थ—इत्र को सँभालकर रक्खा जाय तो मनुष्य बुढ़ापे में भी युवा बना रहता है और युवकों के समान काम करता है। इस इत्र को सँभालकर रखने का नाम है **'ब्रह्मचर्य'**।

गृहस्थ कहते हैं कि ऐसा ब्रह्मचर्य हमसे होगा कैसे ?

महर्षि दयानन्द ने ऐसे लोगों के लिए 'मनुस्मृति' के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए कहा है कि 'जो गृहस्थ नियम के अनुसार और ऋतु के अनुकूल अपनी गृहस्थी चलाता है, वह भी ब्रह्मचारी ही है।'

देखो भाई ! विवाह करा लेने का यह अभिप्राय नहीं है कि अपना और अपनी पत्नी का सत्यानाश करो। विधिपूर्वक तथा संयम से बरतोगे तो अधिक देर तक सुखी रहोगे; अधिक आराम से जीवन व्यतीत करोगे।

विवाह-संस्कार के समय वधू विवाह-मण्डप में बैठे हुए लोगों को सम्बोधित करती हुई कहती है—

'शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्'

'मैं कल्याण के लिए, सुख के लिए, पति के घर को जाती हूँ।'

वह यह तो नहीं कहती कि मैं रोगिणी होने के लिए, हर घड़ी खाट पर पड़ी रहने के लिए जाती हूँ। और कल्याण का मार्ग है—ब्रह्मचर्य।

परन्तु शरीर को ठीक रखने के लिए इन तीन वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ और करना भी आवश्यक है।

सबसे पहली बात यह है कि अपने-आपको प्रसन्न रक्खो। व्यर्थ ही हर घड़ी रोते-धोते मत रहो। यह एक प्रकार का मानसिक तप है। इसके लिए मन को तैयार करना पड़ता है कि इसे दुःखी नहीं होने देना। यह संसार है न, इसमें कष्ट, क्लेश, दुःख, विपत्तियाँ आदि तो आती ही रहती हैं। परन्तु ये जैसे आती हैं, वैसे ही चली भी जाती हैं। दुःख है, कष्ट है, तो उसको दूर करने का यत्न अवश्य करो, परन्तु मन को प्रसन्न रखते हुए करो !

कई सुधारक-जाति के लोग होते हैं। उन्हें संसार का दुःख ही

खाए जाता है। इनसे बातें करो तो रोते हुए कहते हैं, 'क्या करें जी! यह संसार तो बहुत ही अधिक बिगड़ गया; सुधरने में ही नहीं आता!'

मैं उन्हें कहता हूँ, 'यदि संसार नहीं सुधरता तो तुम अपने-आप को शोकाकुल क्यों बना बैठे हो? तुम सुधारने का यत्न करो! अपने कर्त्तव्य का पालन करो! शेष उसपर छोड़ दो कि जिसने यह संसार बनाया है। वह तुमसे पहले भी विद्यमान था; तुम्हारे पश्चात् भी विद्यमान रहेगा। यह उसका संसार है; इसकी चिन्ता वह आप करेगा।'

सीधी-सी बात है कि हमारा धर्म केवल यत्न करना है, फल की चिन्ता करना नहीं। फल की चिन्ता करनेवाला दूसरा है। ऐसे लोगों को, जो व्यर्थ ही चिन्ता में दुबले हुए जाते हैं, मैं एक पद्य सुनाया करता हूँ, आप भी सुनिये—

या खून पसीना करके बहा, या तान के चादर सो जा।
यह नाव तो चलती जायेगी, तू हँसता रह या रोता जा॥

तो फिर हँसते क्यों नहीं, भाई?

देखो, योगी पुरुषों ने ध्यानावस्था में जाकर मनुष्य के शरीर की भीतरी दशा का अवलोकन किया। उन्होंने देखा कि इसके भीतर छोटी-बड़ी सब मिलाकर ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार नाड़ियाँ हैं। आजकल का चिकित्सा-विज्ञान अभी तक इन नाड़ियों की गिनती नहीं कर पाया, जान नहीं पाया। अधूरा विज्ञान है यह। पूर्ण विज्ञान है 'योग'।

अब यह ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार नाड़ियाँ हैं तो इनकी सफ़ाई प्रतिदिन होनी चाहिये; नहीं होगी तो शरीर में कई प्रकार की व्याधियाँ जाग उठेंगी। परन्तु इस शरीर के भीतर क्या कोई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन है जो इन नाड़ियों को साफ़ करेगा? कोई सैनिटरी-इंस्पैक्टर या हैल्थ-ऑफ़ीसर है कि जो यह देखे कि सब नाड़ियाँ साफ़ हुईं या नहीं हुईं?

नहीं; इनको साफ़ रखने का केवल एक उपाय है कि खूब ज़ोर से खुलकर हँसो। हँसने से ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार नाड़ियाँ सब-की-सब खुल जाती हैं; साफ़ हो जाती हैं।

इसलिए मैं कहता हूँ कि दिन में अधिक बार नहीं तो कम-से-कम एक बार तो अवश्य खुलकर हँसो। यह हँसी है वह 'सैनिटरी इन्स्पैक्टर' जो सारे शरीर की नाड़ियों को साफ़-सुथरा कर देती है, कई प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती है।

परन्तु आजकल एक और विपदा भी तो है! इसका नाम है—'ऐटिकेट'। अंग्रेज़ सिखा गया है यह 'ऐटिकेट' कि समाज में बैठकर बहुत जोर से हँसना सभ्यता-शिष्टता के विरुद्ध है। जहन्नुम में गया ऐसा 'ऐटिकेट' जो आदमी को रोगी कर दे! परन्तु मेरी एक बात सुनो! यदि 'ऐटिकेट' की इतनी चिन्ता है तो प्रतिदिन एक काम करो। अपने बाथरूम में जाकर, दरवाज़ा बन्द करके खूब ज़ोर से हँसो। घरवाले यदि समझें कि बाबू जी, लाला जी पागल हो गए हैं तो समझने दो उन्हें। तुम तो खूब ज़ोर से खुलकर हँसो! वे क्या कहते या समझते हैं, इसकी चिन्ता किये बिना अपना स्वास्थ्य बनाओ!

एक अंग्रेज़ की कही बात याद आती है। उसने कहा था—

When you weep your troubles heep,
When you smile your troubles reconcile,
When you laugh your troubles are off.

'जब तुम रोते हो तो आपदाओं के ढेर तुम्हारे लिए एकत्रित हो जाते हैं; मुस्कराते हो तो आपदाएँ कम हो जाती हैं; और जब तुम हँसते हो तो तुम्हारी आपदाएँ भाग खड़ी होती हैं।'

और भगवान् कृष्ण ने भी तो 'गीता' में कहा—

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

'मनुष्य का मन प्रसन्न हो तो उसके सभी दुःख स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं। जिसके चित्त में प्रसन्नता है, उसकी बुद्धि बहुत ही शीघ्र स्थिरता को प्राप्त कर लेती है।'

कितनी सरल विधि है यह! मन को प्रसन्न रक्खो तो बुद्धि स्वयमेव निर्मल होकर उस प्रेम-आनन्द की ओर ले-जायेगी, जिसके लिए योगिजन बरसों योगाभ्यास करते हैं। महर्षि व्यास ने 'योग दर्शन'

का भाष्य लिखने के पश्चात् उसका सारा निचोड़ इन चार शब्दों में लिख दिया है कि—

प्रसन्नं एकाग्रं स्थितिपदं लभते।

'जो आदमी खुश है, जिसके चित्त में प्रसन्नता है, उसे स्थिरता (स्थिति-पद) प्राप्त होती है और वही समाधि के आनन्द को प्राप्त करता है।'

यह है सीधा-सा मार्ग! यह है योगशास्त्र का निचोड़! प्रसन्न रक्खो अपने मन को! दूर करो चिन्ताएँ! फिर बुद्धि एकाग्र होगी; उस प्रभु के दर्शन भी होंगे जो परम आनन्द है, परम शक्ति है, परम कल्याण है, परम कृपा है।

कई लोग मेरे पास आते हैं; कहते हैं, 'स्वामी जी! हम भजन में बैठते तो हैं परन्तु मन टिकता नहीं।'

मैं पूछता हूँ, 'क्यों नहीं टिकता?'

वे कहते हैं, 'चिन्ताएँ लगी रहती हैं।'

इसपर मैं कहता हूँ, 'फिर चिन्ता में लगे रहो; भजन में लगने की क्या आवश्यकता है? चिन्तावाले से भजन कभी होता नहीं। उसको भगवान् कभी मिलता नहीं।'

महर्षि याज्ञवल्क्य से किसी ने पूछा, 'योग क्या है? भगवान् का दर्शन कैसे होता है?'

उन्होंने उत्तर दिया, **'सर्वचिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।'**—'जो सदा के लिए सभी चिन्ताओं का त्याग कर देता है, वह योगी है; उसका योग सफल होता है; उसको प्रभु के दर्शन होते हैं।'

और हम चाहते हैं कि चिन्ता तथा प्रभु-भजन, दोनों साथ-साथ चलते रहें। यह होगा कैसे?

एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान।
पीना चाहे प्रेम-रस, और करना चाहे मान॥

अरे! एक म्यान में दो तलवारें समाएँगी किस प्रकार? प्रभु के प्रेम का रस भी पीना चाहते हो, और यह अभिमान भी मन में रखना

चाहते हो कि तुम्हारी चिन्ता तुमसे दूर करनी है तो हो चुका भजन ! भजन और भक्ति तो मन को चिन्ता, लोभ, मोह, क्रोध, सबसे परे हटाकर होती है—

कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, मान-भावना खोय॥

यह तो तलवार की धार पर चलना है, भाई !

भगती मारग ईश का, ज्यों खाण्डे की धार।
जो डोले सो कटि पड़े, निश्चल उतरे पार॥

यदि मन ही निश्चल नहीं, इसमें स्थिरता नहीं और चिन्ता इसमें घर किये बैठी है तो भक्ति होगी कैसे ?

भक्ति निसैनी मुक्ति की, सन्त चढ़े सब धाय।
जिनके मन चिन्ता रहे, जन्म-जन्म पछताय॥

निसैनी कहते हैं सीढ़ी को। 'जिसके मन में चिन्ता नहीं; लोभ, लालच, काम, क्रोध, अहंकार नहीं, वह दौड़ता हुआ इसपर चढ़ जाता है; दूसरा जन्म-जन्म पछताता है।'

चिन्ता का अभिप्राय है अभिमान—यह विश्वास कि चिन्ता को मैं दूर कर सकता हूँ, मैं इसका उपचार कर सकता हूँ। और यह सच है कि जैसे ही अभिमान उत्पन्न होता है, वैसे ही भक्ति समाप्त हो जाती है—

तिमिर गयो रवि देखते, कुमति गई गुरु-ज्ञान।
सुमति गई अति लोभ ते, भक्ति गई अभिमान॥

'अँधेरा जैसे सूरज को देखते ही भाग जाता है, कुबुद्धि जैसे अच्छा ज्ञान मिलने से चली जाती है, सुबुद्धि जैसे अति लोभ से समाप्त हो जाती है, वैसे ही अभिमान से भक्ति का अन्त हो जाता है।'

इसलिए मैं कहता हूँ, चिन्ता छोड़ दो ! इसको परे हटाकर भजन करो, तब मन लगेगा अवश्य !

भक्ति निसैनी मुक्ति की, सन्त चढ़े सब धाय।
नीचे चिन्ता बाघनी, गिरे झपटकर खाय॥

'भक्ति से मुक्ति मिलती है अवश्य ! इसी सीढ़ी पर चढ़ते जाओ

तो ऊपर वहाँ जा पहुँचोगे जहाँ आनन्द का अनन्त पारावार लहरा रहा है। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि इस सीढ़ी के नीचे चिन्ता नाम की एक शेरनी बैठी है। तुम गिरे नहीं कि इसने झपटकर खाया नहीं।'

और फिर भाई, प्रभु का, ईश्वर का प्यार मन में है तो फिर दूसरे का ध्यान भी मन में क्यों आए ? यदि आएगा तो भगवान् तो मिलेंगे नहीं। जंन्म-जन्म में भटकना अवश्य मिलेगा !

कबिरा प्रभु के नाम में, बात चलावे और।
उस अपराधी जीव को, तीन लोक कित ठौर ?

दूसरे की बात कर नहीं, सोच नहीं ! भजन करना है, स्मरण करना है, तो केवल प्रभु से लौ लगाकर कर !

सुमिरन की सिधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरे नहीं, निशिदिन आठों जाम ॥

'कामी पुरुष को जैसे दूसरी बात नहीं सूझती, ऐसे ही प्रभु को प्यार करो।'

सुमिरन की सिधि यों करो, ज्यों गागर पनिहार।
हाले डोले सुरति में, कहें कबीर विचार ॥

'पनिहारी पानी की गागर लेकर चलती है न, हिलती है, डोलती है, परन्तु पानी की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरती; कारण कि उसका ध्यान पानी में है।'

सुमिरन की सिधि यों करो, ज्यों सुरभि सुत माँहि।
कहें कबीर चारा चरत, बिसरत कबहूँ नाँहि ॥

'गाय चारा खाती है, परन्तु उसका ध्यान अपने बछड़े में रहता है। इसी प्रकार भजन करो।'

सुमिरन की सिधि यों करो, जैसे दाम कँगाल।
कहें कबीर बिसरे नहीं, पल-पल लेत सँभाल ॥

'कंगाल आदमी जैसे अपनी थोड़ी-सी दौलत का ध्यान रखता है, बार-बार उसी को सँभालता है, इसी प्रकार भजन करो।'

सुमिरन की सिधि यों करो, जैसे नाद कुरंग।
कहें कबीर बिसरे नहीं, प्राण तजे तेहि संग ॥

'हिरन संगीत के स्वर से मस्त होकर शिकारी के सामने आ जाता है; मृत्यु स्वीकार है उसको; गीत के प्यार को छोड़ना रुचिकर नहीं; इस प्रकार भजन करो।'

परन्तु मैं कहूँ, कबीर कहें, या दूसरे लोग कहें, चिन्ता करनेवाले चिन्ता करना वन्द तो करेंगे नहीं। इसलिए सोचो कि चिन्ता आती कहाँ है? वहाँ ही तो, जहाँ ईश्वर का प्यार नहीं है। यदि मन में ईश्वर का प्यार है तो फिर चिन्ता आयेगी किस स्थान पर? यह भवन है न, आप यहाँ बैठे हैं; यह ठसाठस भरा हुआ हो, तिल धरने का भी स्थान न हो तो बाहर से कोई आदमी आए तो क्या करेगा? या तो वह बाहर खड़ा रहेगा या थककर चला जाएगा। जब स्थान ही नहीं तो समायेगा कहाँ?

और फिर यह भी सोचो कि चिन्ता होती किसको है?—उसको, जिसको ईश्वर पर विश्वास नहीं, जिसको यह निश्चय नहीं कि अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, आराम या कष्ट, सब ईश्वर की शक्ति से होते हैं। और ईश्वर हमारे भले के लिए, कल्याण के लिए सव-कुछ करता है। हमसे, किसी से भी उसको कोई वैर है नहीं। कई वार ऐसा होता है कि हम किसी वात को बुरा समझते हैं, दुःखी होते हैं कि यह वात हुई क्यों? परन्तु पीछे जाकर पता लगता है कि ऐसा होने में ही हमारा कल्याण था।

एक वार मैं महात्मा हंसराज जी के साथ कराची गया वेद-प्रचार के लिए दान एकत्र करने। वहीं एक दिन गुजरात के रायवहादुर केदारनाथ जी मिल गए। वे मेरे वहुत अच्छे मित्र थे। वातचीत के दौरान उन्होंने वताया कि वह क्वेटा जा रहे हैं। मुझसे वोले, 'तुम भी चलो। वहाँ अंगूर खाएँगे, अंगूरों का रस पीयेंगे; शीतल स्थान है। दो-तीन दिन विश्राम करके लौट आयेंगे।' मैंने मान लिया। निश्चय हो गया कि वह अपने साथ-साथ रेलगाड़ी में मेरे लिए भी सीट रिज़र्व करा लेंगे। मैं वहुत प्रसन्न था कि कराची की गर्मी से दो-चार दिन की छुट्टी मिल जायेगी; विश्राम मिल जायेगा; अंगूर मिल जायेंगे। परन्तु महात्मा हंसराज जी से वात की तो वे वोले, 'नहीं, हमें कराची

में ही रहना है; जो काम यहाँ करने आए हैं, उसको अधूरा कैसे छोड़ सकते हैं ?'

मैंने कहा, 'काम तो आप करते हैं; मैं तो ऐसे ही आपके साथ चला जाता हूँ ।'

वह बोले, 'नहीं, तुम क्वेटा नहीं जा सकते ।'

मैंने कहा, 'मेरी तो सीट रिज़र्व हो चुकी है ।'

वह बोले, 'उसको कैंसल करा दो ।'

और सचमुच ही मुझे बहुत दुःख हुआ । मन-ही-मन मैंने अपने भाग्य को कोसा । भगवान् से भी अप्रसन्न हुआ कि अच्छा-भला विश्राम करने का अवसर मिला था और भगवान् ने वह विश्राम भी नहीं लेने दिया ।

महात्मा हंसराज जी की बात मैं टालता नहीं था । यह भी दुःख हुआ कि उनसे एक ही प्रार्थना की थी, उन्होंने वह भी नहीं मानी । परन्तु मन मारकर बैठ रहा । रायबहादुर केदारनाथ जी को संदेश भेज दिया कि मेरी सीट कैंसल करा दें; मैं क्वेटा नहीं जा सकूंगा । रायबहादुर जी अकेले ही गए । दूसरे ही दिन क्वेटा में वह भयानक भूकम्प आया कि जिसमें सारा क्वेटा नष्ट-भ्रष्ट हो गया । ३५ हज़ार व्यक्ति मर गए । रायबहादुर केदारनाथ जी की भी मृत्यु हो गई । तब मैंने समझा कि भगवान् ने जो कुछ किया, वह मेरे भले के लिए था । मैं भी यदि रायबहादुर केदारनाथ जी के साथ गया होता तो मेरी गिनती भी उन ३५ हज़ार लोगों में हो जाती ।

स्मरण रक्खो, जिसको हम बुरा, दुःखदायी व कष्ट समझते हैं वह भी हमारे भले के लिए है । यह विश्वास जिस व्यक्ति के मन में हो उसको चिन्ता कभी जीवन-भर नहीं होती—

चिन्ता वाकी कीजिये, जो अनहोनी होय ।
अनहोनी होनी नहीं, होनी हो तो होय ।।

होने दो उसे; तुम चिन्ता करके अधमरे क्यों हुए जाते हो ?

चिन्ता ज्वरो मनुष्याणां क्षुधां-निद्रां-बलं हरेत् ।

'ऐसा है यह चिन्ता-ज्वर कि जिसको यह चढ़ जाता है, उसकी भूख

छीन लेता है, नींद छीन लेता है, बल छीन लेता है।'

इसलिए शरीर को स्वस्थ और मन को प्रसन्न रखकर प्रभु-भजन करना है तो चिन्ता को छोड़ना पड़ेगा। सब चिन्ताओं को छोड़कर मन को प्रसन्न रखना भी एक तप है। भगवान् श्री कृष्ण ने 'गीता' में मानसिक तप की बात करते हुए कहा है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

'मन को प्रसन्न रखना, शान्त स्वभाव से रहना, भगवान् के प्यार को अपना स्वभाव बना लेना, मन को वश में रखकर अपना कर्त्तव्य पालन करना—यह मानसिक तप है।'

इसमें उन्होंने सबसे प्रथम मन की प्रसन्नता का उल्लेख किया है; क्योंकि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

'मन ही से मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त करता है, बन्धन को भी।'

दिल ही की बदौलत रंज भी है,
दिल ही की बदौलत राहत भी।
यह दुनिया जिसको कहते हैं,
दोज़ख भी है और जन्नत भी॥

तो फिर इसको क्यों नरक बना रहे हो भाई ? तुम्हारे वश में है, इसे स्वर्ग बना लो। क्यों जान-बूझकर अपने लिए नरक उत्पन्न करते हो ?

देखो, इस संसार में तो न सुख है, न दुःख। सुख और दुःख, दोनों मन की दो दशाओं के नाम हैं। यह मन तुम्हारा है; इसकी दशा कैसी होनी चाहिये, इसका निर्णय तुम कर सकते हो। फिर सुख की दशा क्यों नहीं उत्पन्न कर लेते, जी ?

गर्मियों की जलती हुई दोपहर है। एक मज़दूर धूप में बैठा हुआ सड़क पर पत्थर तोड़ रहा है। दोपहर को एक-दो घंटे की छुट्टी हुई। नल से पानी पिया। थक गया था; वहीं पत्थरों पर गहरी नींद सो गया।

दूसरी ओर एक बाबू साहब हैं। एअर-कण्डीशनर लगा है। कमरा ठंडा है, परन्तु मन में चैन नहीं। दफ्तर से निकले तो एअर-कण्डीशण्ड मोटर में बैठकर एअर-कण्डीशण्ड क्लब में पहुँचे। वहाँ भी मन को शान्ति नहीं मिली तो एअर-कण्डीशण्ड घर में आए। थोड़ा-बहुत भोजन किया। सेवक ने कई वस्तुएँ बनाई थीं, परन्तु उन्हें भूख ही नहीं; मन में चिन्ता है। एअर-कण्डीशण्ड कमरे में गए सोने के लिए। गद्देदार पलँग है, ठंडी वायु। प्रत्येक प्रकार का आराम है। परन्तु नींद नहीं आई, इसलिए नींद की गोलियाँ खाईं। सो गए। प्रातः जागे सो ऐसा प्रतीत हुआ कि शरीर टूट रहा है।

अब बताओ, दोनों में से कौन-सा सुखी है? जलती दोपहरी में गर्म पत्थरों पर चैन से सोया हुआ मज़दूर, या यह करोड़पति सेठ साहब? मज़दूर के मन में शान्ति है, चैन है, सुख है; वह आनन्द से सोता है। सेठ जी के मन में चिन्ता है, दुःख है, ईर्ष्या है, दूसरों के लिए शत्रुता है, अपने पापों पर पड़े पर्दे के उठने का भय है, सो उन्हें नींद नहीं आती।

सुख और दुःख तो मानसिक दशाएँ हैं—जब कोई व्यक्ति इस बात को समझ लेता है, तब उसके लिए सुख और दुःख दोनों बराबर हो जाते हैं; दोनों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। भगवान् कृष्ण ने ऐसी दशा को 'सम-अवस्था' कहा है। सुख आया तो प्रसन्नता से फूलकर कुप्पा मत हो जाओ! दुःख आया है तो शोक से सन्तप्त और सूखकर काँटा मत बन जाओ! यह है मन को प्रसन्न रखने की विध! यह है वह मानसिक तप जिससे मानसिक बल मिलता है!

इसके पश्चात् आवश्यक है **आत्मिक बल**। परन्तु आजकल तो संसार में कई लोग आत्मा के अस्तित्व तक को नहीं मानते।

मैं यूरोप जा रहा था। वायुयान में मेरे साथ एक अँगरेज़ सज्जन बैठे थे। बातचीत आरम्भ हो गई—

उन्होंने पूछा, 'कहाँ जा रहे हैं?'

मैंने कहा, 'लन्दन।'

वह बोले, 'वहाँ नौकरी करते हो?'

मैंने कहा, 'नहीं ।'

वह बोले, 'व्यापार करते हो ?'

मैंने कहा, 'नहीं ।'

उन्होंने पूछा, 'सैर करने जा रहे हो ?'

मैंने कहा, 'नहीं ।'

वह बोले, 'फिर क्यों जा रहे हो ?'

मैंने कहा, 'यूरोपवालों की एक वस्तु खो गई है; उसका पता बताने जा रहा हूँ ।'

उन्होंने पूछा, 'कौन-सी वस्तु ?'

मैंने पूछा, 'यूरोप ने विज्ञान में बहुत उन्नति की है न ?'

वह बोले, 'हाँ ।'

मैंने पूछा, 'शिल्प में, व्यापार में ?'

वह बोले, 'हाँ ।'

मैंने पूछा, 'धन में ?'

वह बोले, 'हाँ ।'

मैंने पूछा, 'फिर यूरोप के लोग दुःखी क्यों हैं ?'

वह बोले, 'दुःखी तो हैं; किसी के मन में चैन नहीं है । परन्तु यह पता नहीं कि क्यों नहीं है ।'

मैंने हँसते हुए कहा, 'मुझे पता है । इसी का पता बताने जा रहा हूँ । उनकी एक वस्तु खो गई है, उसका ज्ञान देने जा रहा हूँ ।'

क्या वस्तु खो गई है ? यह बताने के लिए मैंने एक कहानी सुनाई । एक मनुष्य था—किसी गाँव का चौधरी । मरने लगा तो उसने वसीयत लिखवाई कि मेरे मरने के पश्चात् १९ ऊँटों में से आधे मेरे बेटे को दे दिये जायँ; चौथा भाग मेरे सेवक को दे दिया जाय ; पाँचवाँ हिस्सा मेरी नौकरानी को दे दिया जाय ।

लो जी मर गया वह चौधरी ! अब वसीयत के अनुसार ऊँटों का बँटवारा होने लगा तो गाँववाले भौंचक्के ! पंचायत बैठी । सब परेशान कि १९ ऊँटों में से आधे ऊँट बेटे को कैसे दिये जायँ ? एक ऊँट तो काटना पड़ेगा । कट ही गया तो मर जायेगा ।

बहुत सोचने के पश्चात् भी जब निर्णय नहीं हो सका तो साथवाले गाँव से एक सयाने को बुलाया गया। वह भी अपने ऊँट पर चढ़कर आया। बोला, 'क्या समस्या है ?'

गाँववालों ने समस्या बताई।

उस सयाने आदमी ने कहा, 'समस्या तो मैं सुलझा देता हूँ। लाओ अपने उन्नीस ऊँट !'

जब उन्नीस ऊँट आ गए, तो सयाने सज्जन ने अपना ऊँट भी उनमें मिला लिया; बोला—'बीस ऊँट हैं; आधे हुए दस; ये दस ऊँट बेटे को दे दो।'

तब उसने नौकर को बुलाया, 'बीस का चौथा हिस्सा होता है, पाँच; ये पाँच ऊँट तुम ले जाओ।'

तब बुलाया नौकरानी को, 'बीस का पाँचवाँ हिस्सा होता है चार; चार ऊँट तुम्हारे हैं। चौधरी की वसीयत पूरी हो गई। यह बीसवाँ ऊँट मेरा है। मैं अपने गाँव जा रहा हूँ इसको लेकर।'

इस प्रकार यह समस्या सुलझ गई। दस ऊँट बेटे को, पाँच नौकर को और चार नौकरानी को—सब मिलाकर १९ ऊँट बाँट दिए गए और वसीयत के अनुसार बाँटे गए।

अरे ! हमारे पास भी १९ ऊँट हैं ! पाँच कर्मेन्द्रियाँ; पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच प्राण; तीनों मिलकर पन्द्रह हुए। इनके अतिरिक्त मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार—ये हैं उन्नीस ऊँट। परन्तु इसकी समस्या तब सुलझती है जब इनमें आत्मा-रूपी ऊँट और मिला लिया जाय। आत्मा लुप्त रहे तो लाख सिर पटको, कोई समस्या हल नहीं होगी।

परन्तु आत्मा लुप्त नहीं रहता। आत्मा तो हर घड़ी विद्यमान रहता है। इसका केवल ज्ञान लुप्त हो जाता है।

एक थे श्रीमान् जी वकील या बैरिस्टर। कचहरी से घर आए तो याद आया कि कल एक आवश्यक मुकद्दमा है। अलमारी से खोजकर उसके काग़ज़ात निकाले; उन्हें अपने कोट की ज़ेब में रख लिया कि कल कचहरी जाते समय भूल न जायँ। तब खाना खाया। सो गए। प्रातः उठे तो रात की बात भूल गए। केवल यह याद रहा कि आज

अमुक मुकद्दमा है। उसके काग़ज़ ढूँढने लगे; मेज़ के दराज़ देखे; अलमारी का प्रत्येक खाना देखा; परन्तु वे मिलते कैसे ? वे तो उनके कोट की जेब में थे। बहुत झल्लाए; बहुत क्रोध में थे।

घरवाली ने पूछा, 'मूड इतना खराब क्यों कर रहे हो ?'

वह बोले, 'होगा नहीं क्या ? तुम्हारे बच्चे इतने शैतान हैं कि मेरे जो आवश्यक काग़ज़ यहाँ अलमारी में थे, उन्हें पता नहीं कहाँ रख दिया है ?'

पतियों की यह बात सामान्यतया सभी की है।

बच्चे कोई अच्छी बात करें तो कहते हैं, 'मेरे बच्चे।'

कोई बुरी बात करें तो तो पत्नी से कहते हैं, 'तेरे बच्चे।'

अरे भाई, मैं भी तो गृहस्थ रहा हूँ। जानता हूँ इन बातों को।

तो उस पत्नी ने कहा, 'बच्चों को क्यों कोसते हो ? कल रात कुछ काग़ज़ आपने अपने कोट की जेब में भी रक्खे थे ?'

पति जी को याद आया। शीघ्र ही बोल उठे, 'अरे हाँ, कोट की जेब में।'

तो ये काग़ज़ लुप्त नहीं थे—इनका ज्ञान लुप्त था। ऐसे ही आत्मा लुप्त नहीं होता; आत्मा का ज्ञान लुप्त हो जाता है। इस आत्मिक बल से अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई है नहीं।

मथुरा नगर में बाल ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द पहुँचे। पंडितों से शास्त्रार्थ किये। सबको निरुत्तर कर दिया। पंडित महोदय घबराए कि लम्बे-चौड़े, मोटे-तगड़े साधु को क्या कहें! अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि कोई बहाना बनाकर इसको मथुरा से बाहर निकालो। एक बाज़ारू स्त्री (वेश्या) से मिलकर उन्होंने षड्यन्त्र किया कि वह खूब बन-ठनकर महर्षि दयानन्द के पास जाय और उनके पास जाकर शोर मचा दे कि इस साधु ने मुझे छेड़ा है।

व्यवस्था यह की गई कि पंडित लोग और उनके कुछ हट्टे-कट्टे साथी समीप ही रहेंगे। फिर वे शोर सुनते ही वहाँ पहुँच जावेंगे और दयानन्द को मार-मारकर मथुरा से बाहर निकाल देंगे। वह स्त्री सुन्दर भी थी और युवती भी। पंडितों ने आभूषणों और रुपए का लालच

दिया तो लोभ में आ गई। लोभ तो प्रत्येक पाप का बाप है ही। इस स्त्री ने भड़कीले कपड़े पहने; सुन्दर आभूषण सजाए। पहुँच गई वहाँ, जहाँ जमुना के किनारे एक कुटिया में महर्षि दयानन्द रहते थे। दूर से इसने महर्षि को देखा। उस समय वे आसन लगाए ध्यान में मग्न थे। उन्हें देखते ही इसके मन में विचार आया—इस आदमी ने मेरा क्या बिगाड़ा है ? इतना सुन्दर, इतना तपस्वी मनुष्य है यह। इसको बदनाम करने क्यों मैं जा रही हूँ ?

इस विचार के आते ही मानो उसके आधे पाप मन से धुल गए। थोड़ा और आगे बढ़ी। उन्हें समीप से देखा तो अपने-आप से घृणा हो गई कि जो आदमी इस प्रकार भगवान् के भजन में मग्न है, उसके विषय में मैं पाप करूँ तो क्यों ? इस धन के लिए, जो कभी किसी के साथ नहीं गया ? इस विचार के साथ ही मन के कितने ही दूसरे पाप भी धुल गए। स्वामी जी के समीप पहुँची तो इसकी आँखों से आँसू बहने लगे—यह पवित्र मूर्ति और मैं क्या करने जा रही थी ! उसी समय वह अपना एक-एक आभूषण उतारकर फेंकने लगी। महर्षि ने जब खट-खट का शब्द सुना तो आँखें खोलकर इसकी ओर देखा। धीमे से बोले, 'माँ ! तुम रोती क्यों हो ? क्या कर रही हो यह ?'

और 'माँ' शब्द सुनते ही वह स्त्री और अधिक रो उठी। उसने महर्षि के चरण छुए और उन्हें सारी बात बता दी।

यह था आत्मिक बल का प्रभाव !

महात्मा गांधी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के लिए लन्दन गए तो वही छोटी-सी धोती, और कन्धे पर चादर लेकर। ब्रिटेन के राजा ने उनके विषय में सुना तो अपने सैक्रेटरी से कहा कि वह गांधी जी से मिलना चाहते हैं, उन्हें भेंट के लिए महल में बुलाया जाय। गांधी जी ने यह संदेश सुना तो बोले, 'मैं जाने को तैयार तो हूँ परन्तु आपके नियमोपनियमों के अनुसार तो सम्राट् से भेंट के समय कोट-पैंट-नेकटाई आदि पहननी पड़ती है न, विशेष प्रकार का परिधान ?'

सन्देश लानेवाले ने कहा, 'कानून तो यही है।'

गांधी जी ने कहा, 'मैं ऐसा लिबास पहन नहीं सकता। एक ग़रीब

देश का प्रतिनिधि हूँ; ग़रीबों-जैसे ही कपड़े पहनता हूँ। मैं जाऊँगा तो यही चप्पल, धोती और चादर पहनकर जाऊँगा।'

सन्देश लानेवाले ने कहा, 'यह तो हो नहीं सकता। क़ानून इसकी अनुमति नहीं देता।'

गांधी जी बोले, 'तो फिर जाने दो; मैं भेंट के लिए नहीं जाऊँगा।'

यह विषय मंत्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। मंत्रिमण्डल ने निर्णय किया, 'कानून यही है; गांधी जी यदि सम्राट् से भेंट करना चाहते हैं तो क़ानून द्वारा निश्चित वेश पहनना ही होगा।'

सम्राट् को इस बात का पता चला तो उन्होंने मन्त्रियों से कहा, 'तुम लोगों ने ग़लत समझा है। गांधी जी मुझसे नहीं, मैं गांधी जी से मिलना चाहता हूँ। वे जैसे भी आएँ, वैसे ही उन्हें आने दो। तुम्हें अपना क़ानून बदलना पड़े तो बदल लो।'

और गांधी जी उसी चप्पल, धोती और चादर में राजमहल के भीतर पहुँचे और सम्राट् से भेंट कर आए।

यह है आत्मिक बल का प्रभाव ! इसके सामने राज-बल, धन-बल, बाहु-बल, तपो-बल, सब व्यर्थ हो जाते हैं।

परन्तु लो जी ! समय हो गया। अब शेष बात कल सही। ओम् शम् !

□

दिया तो लोभ में आ गई। लोभ तो प्रत्येक पाप का बाप है ही। इस स्त्री ने भड़कीले कपड़े पहने; सुन्दर आभूषण सजाए। पहुँच गई वहाँ, जहाँ जमुना के किनारे एक कुटिया में महर्षि दयानन्द रहते थे। दूर से इसने महर्षि को देखा। उस समय वे आसन लगाए ध्यान में मग्न थे। उन्हें देखते ही इसके मन में विचार आया—इस आदमी ने मेरा क्या बिगाड़ा है ? इतना सुन्दर, इतना तपस्वी मनुष्य है यह। इसको बद-नाम करने क्यों मैं जा रही हूँ ?

इस विचार के आते ही मानो उसके आधे पाप मन से धुल गए। थोड़ा और आगे बढ़ी। उन्हें समीप से देखा तो अपने-आप से घृणा हो गई कि जो आदमी इस प्रकार भगवान् के भजन में मग्न है, उसके विषय में मैं पाप करूँ तो क्यों ? इस धन के लिए, जो कभी किसी के साथ नहीं गया ? इस विचार के साथ ही मन के कितने ही दूसरे पाप भी धुल गए। स्वामी जी के समीप पहुँची तो इसकी आँखों से आँसू बहने लगे—यह पवित्र मूर्ति और मैं क्या करने जा रही थी ! उसी समय वह अपना एक-एक आभूषण उतारकर फेंकने लगी। महर्षि ने जब खट-खट का शब्द सुना तो आँखें खोलकर इसकी ओर देखा। धीमे से बोले, 'माँ ! तुम रोती क्यों हो ? क्या कर रही हो यह ?'

और 'माँ' शब्द सुनते ही वह स्त्री और अधिक रो उठी। उसने महर्षि के चरण छुए और उन्हें सारी बात बता दी।

यह था आत्मिक बल का प्रभाव !

महात्मा गांधी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के लिए लन्दन गए तो वही छोटी-सी धोती, और कन्धे पर चादर लेकर। ब्रिटेन के राजा ने उनके विषय में सुना तो अपने सैक्रेटरी से कहा कि वह गांधी जी से मिलना चाहते हैं, उन्हें भेंट के लिए महल में बुलाया जाय। गांधी जी ने यह संदेश सुना तो बोले, 'मैं जाने को तैयार तो हूँ परन्तु आपके नियमोपनियमों के अनुसार तो सम्राट् से भेंट के समय कोट-पैंट-नेकटाई आदि पहननी पड़ती है न, विशेष प्रकार का परिधान ?'

सन्देश लानेवाले ने कहा, 'कानून तो यही है।'

गांधी जी ने कहा, 'मैं ऐसा लिबास पहन नहीं सकता। एक ग़रीब

देश का प्रतिनिधि हूँ; ग़रीबों-जैसे ही कपड़े पहनता हूँ। मैं जाऊँगा तो यही चप्पल, धोती और चादर पहनकर जाऊँगा।'

सन्देश लानेवाले ने कहा, 'यह तो हो नहीं सकता। क़ानून इसकी अनुमति नहीं देता।'

गांधी जी बोले, 'तो फिर जाने दो; मैं भेंट के लिए नहीं जाऊँगा।'

यह विषय मंत्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। मंत्रिमण्डल ने निर्णय किया, 'कानून यही है; गांधी जी यदि सम्राट् से भेंट करना चाहते हैं तो क़ानून द्वारा निश्चित वेश पहनना ही होगा।'

सम्राट् को इस बात का पता चला तो उन्होंने मन्त्रियों से कहा, 'तुम लोगों ने ग़लत समझा है। गांधी जी मुझसे नहीं, मैं गांधी जी से मिलना चाहता हूँ। वे जैसे भी आएँ, वैसे ही उन्हें आने दो। तुम्हें अपना क़ानून बदलना पड़े तो बदल लो।'

और गांधी जी उसी चप्पल, धोती और चादर में राजमहल के भीतर पहुँचे और सम्राट् से भेंट कर आए।

यह है आत्मिक बल का प्रभाव! इसके सामने राज-बल, धन-बल, बाहु-बल, तपो-बल, सब व्यर्थ हो जाते हैं।

परन्तु लो जी! समय हो गया। अब शेष बात कल सही। ओम् शम्!

□

चौथा दिन

[पूज्य स्वामी जी महाराज ने सुदीर्घ ऊँचे स्वर में देर तक 'ओ...३...म्' कहा और अपनी कथा आरम्भ की—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

धन की बात चल रही थी न, और यह बात चलती ही रहती है। कई लोगों के लिए तो जबतक साँस चलता है तबतक धन की ही बात चलती है; दूसरी चलती ही नहीं। मैं था लखनऊ आर्यसमाज में ठहरा हुआ। एक नवयुवक मेरे पास आया, घबराया हुआ। मैंने पूछा, 'क्या बात है ?'

वह बोला, 'पिताजी की हालत बहुत खराब है।'

मैंने पूछा, 'डॉक्टरों को दिखाया ?'

वह बोला, 'डॉक्टरों ने जवाब दे दिया है और पिताजी केवल आपको याद कर रहे हैं। बार-बार आपका नाम लेते हैं। कहते हैं—आनन्द स्वामी को बुलाओ।'

मैंने कहा, 'तब चलो भाई, मैं चलता हूँ।'

वहाँ पहुँचा तो देखा उस सज्जन को—भूमि पर लिटा रख

बेहोश नहीं है, होश में है। हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते भी की

साँस उखड़ रहा था। मैंने कहा, 'आपके पास गायत्री-मंत्र

करूँ ? गीता का पाठ करूँ ? क्या चाहते हैं आप ?'

वह बड़ी कठिनाई से बोले. 'यह सब तो मेरे लड़के भी

मैंने आपको बुलाया तो इ से कि मेरे बच्चों को

दें। मैं इन्हें कहता हूँ कि नोट की अवधि समा

वाली है; इन्हें नए सिरे , नहीं तो सारा पै

जायेगा। परन्तु ये गीता अ ही कहते

मैंने उनकी बात सुनी कि यह आ

भर पैसे की बात सोचता र भी

बात सोचता है। इसका बनेगा क्या ? जीवन-भर पैसा, पैसा, पैसा; पैसा, तो अन्त में पैसे के अतिरिक्त और सूझेगा ही क्या ? भगवान् कैसे याद आयेंगे ? वेद कहता है—**'कस्य स्वित् धनम् ?'** यह धन तुम्हारा नहीं; किसी दूसरे का नहीं; ईश्वर का है, प्रजापति का है, और तुम उसको अपना समझकर साँप के समान उससे चिपटे जाते हो ! 'प्रजापति' ईश्वर को कहते हैं। 'प्रजापति' प्रजा का पालन करने-वाली सरकार को कहते हैं, उस आदमी को भी कहते हैं जो अपने धन को देश के लिए, जाति के लिए, ग़रीबों, दुःखियों, मज़दूरों, अपाहिजों, असहायों और विधवाओं के लिए खर्च करता है। लोगों की सहायक आर्यसमाज-सरीखी संस्थाओं को भी 'प्रजापति' कहते हैं। अभी पिछले दिनों डॉक्टर गोकुलचन्द जी नारंग का देहान्त हुआ। उनके बेटों ने उनके नाम पर डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी को पाँच लाख रुपए का दान दे दिया कि देवियों की शिक्षा के लिए एक कॉलेज दिल्ली में चालू कर दिया जाय। अब यहाँ आर्य कन्या महाविद्यालय चालू हो जायेगा। यह है धन का उचित उपयोग !

वेद ने जिस मंत्र में यह कहा कि धन प्रजापति का है, उसी में यह भी कहा है कि **'मा गृधः।'**—'लालच मत कर !'

परन्तु किसका लालच मत कर ? क्या केवल दूसरे के धन का ? नहीं; अपने धन का भी लालच मत कर ! कारण कि यह धन तेरा है नहीं। तेरे आने से पहले भी यह धन विद्यमान था; तेरे जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहेगा। इसको तू अपना कैसे कहता है ? तेरा हो तो तेरे साथ चला न जावे ? तू जो कमाता है, वह भी तेरा नहीं है।

मैंने बताया था न, तेरी कमाई में से पहला भाग तो धर्म के लिए है; दूसरा यश के लिए; तीसरा व्यापार के लिए; चौथा तुम्हारे अपने लिए और पाँचवाँ तुम्हारे सम्बन्धियों, ज़रूरतमन्द मित्रों और ग़रीब लोगों के लिए है।

पाँच हिस्से तो यही हो गए। सौ रुपए कमाए तुमने तो उनमें से केवल बीस रुपए तुम्हारे हैं; अस्सी रुपए तुम्हारे हैं नहीं। परन्तु इन बीस रुपयों के भी कई हिस्से होते हैं, फिर यह कमाई तुम्हारी कैसे है ?

चौथा दिन

[पूज्य स्वामी जी महाराज ने सुदीर्घ ऊँचे स्वर में देर तक 'ओ···३···म्' कहा और अपनी कथा आरम्भ की—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

धन की बात चल रही थी न, और यह बात चलती ही रहती है। कई लोगों के लिए तो जबतक साँस चलता है तबतक धन की ही बात चलती है; दूसरी चलती ही नहीं। मैं था लखनऊ आर्यसमाज में ठहरा हुआ। एक नवयुवक मेरे पास आया, घबराया हुआ। मैंने पूछा, 'क्या बात है ?'

वह बोला, 'पिताजी की हालत बहुत ख़राब है।'

मैंने पूछा, 'डॉक्टरों को दिखाया ?'

वह बोला, 'डॉक्टरों ने जवाब दे दिया है और पिताजी केवल आपको याद कर रहे हैं। बार-बार आपका नाम लेते हैं। कहते हैं—आनन्द स्वामी को बुलाओ।'

मैंने कहा, 'तब चलो भाई, मैं चलता हूँ।'

वहाँ पहुँचा तो देखा उस सज्जन को—भूमि पर लिटा रक्खा है; बेहोश नहीं है, होश में है। हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते भी की। परन्तु साँस उखड़ रहा था। मैंने कहा, 'आपके पास गायत्री-मंत्र का जाप करूँ ? गीता का पाठ करूँ ? क्या चाहते हैं आप ?'

वह बड़ी कठिनाई से बोले, 'यह सब तो मेरे लड़के भी कहते हैं। मैंने आपको बुलाया तो इस प्रयोजन से कि मेरे बच्चों को कुछ समझा दें। मैं इन्हें कहता हूँ कि अमुक-अमुक प्रोनोट की अवधि समाप्त होनेवाली है; इन्हें नए सिरे से लिखवा लेना, नहीं तो सारा पैसा मारा जायेगा। परन्तु ये गीता और गायत्री की बात ही कहते जाते हैं।'

मैंने उनकी बात सुनी तो बहुत ही खेद हुआ कि यह आदमी जीवन-भर पैसे की बात सोचता रहा है। अब मरते समय भी पैसे ही की

बात सोचता है। इसका बनेगा क्या ? जीवन-भर पैसा, पैसा, पैसा, पैसा, तो अन्त में पैसे के अतिरिक्त और सूझेगा ही क्या ? भगवान् कैसे याद आयेंगे ? वेद कहता है—'**कस्य स्वित् धनम् ?**' यह धन तुम्हारा नहीं; किसी दूसरे का नहीं; ईश्वर का है, प्रजापति का है, और तुम उसको अपना समझकर साँप के समान उससे चिपटे जाते हो ! 'प्रजापति' ईश्वर को कहते हैं। 'प्रजापति' प्रजा का पालन करने-वाली सरकार को कहते हैं, उस आदमी को भी कहते हैं जो अपने धन को देश के लिए, जाति के लिए, ग़रीबों, दुःखियों, मज़दूरों, अपाहिजों, असहायों और विधवाओं के लिए खर्च करता है। लोगों की सहायक आर्यसमाज-सरीखी संस्थाओं को भी 'प्रजापति' कहते हैं। अभी पिछले दिनों डॉक्टर गोकुलचन्द जी नारंग का देहान्त हुआ। उनके बेटों ने उनके नाम पर डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी को पाँच लाख रुपए का दान दे दिया कि देवियों की शिक्षा के लिए एक कॉलेज दिल्ली में चालू कर दिया जाय। अब यहाँ आर्य कन्या महाविद्यालय चालू हो जायेगा। यह है धन का उचित उपयोग !

वेद ने जिस मंत्र में यह कहा कि धन प्रजापति का है, उसी में यह भी कहा है कि '**मा गृधः**।'—'लालच मत कर !'

परन्तु किसका लालच मत कर ? क्या केवल दूसरे के धन का ? नहीं; अपने धन का भी लालच मत कर ! कारण कि यह धन तेरा है नहीं। तेरे आने से पहले भी यह धन विद्यमान था; तेरे जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहेगा। इसको तू अपना कैसे कहता है ? तेरा हो तो तेरे साथ चला न जावे ? तू जो कमाता है, वह भी तेरा नहीं है।

मैंने बताया था न, तेरी कमाई में से पहला भाग तो धर्म के लिए है; दूसरा यश के लिए; तीसरा व्यापार के लिए; चौथा तुम्हारे अपने लिए और पाँचवाँ तुम्हारे सम्बन्धियों, ज़रूरतमन्द मित्रों और ग़रीब लोगों के लिए है।

पाँच हिस्से तो यही हो गए। सौ रुपए कमाए तुमने तो उनमें से केवल बीस रुपए तुम्हारे हैं; अस्सी रुपए तुम्हारे हैं नहीं। परन्तु इन बीस रुपयों के भी कई हिस्से होते हैं, फिर यह कमाई तुम्हारी कैसे है ?

हाँ, धन का मद मस्तिष्क में चढ़ाना है तो चढ़ा लो, अपने कर्त्तव्य को भुलाना है तो भुला लो। परन्तु यह भी स्मरण रक्खो कि,

नशा दौलत का बद-अतवार के जिस आन चढ़ा,

बद-अतवार कहते हैं कुकर्मी को, बुरे चाल-चलनवाले को—

नशा दौलत का बद-अतवार के जिस आन चढ़ा,
सर पै शैतान के इक और भी शैतान चढ़ा।

यह कुछ अच्छी बात हुई नहीं। एक तो कुकर्मी, दूसरे दौलत का नशा; शैतान के सिर पर शैतान; ऐसे आदमी का भविष्य क्या होगा?

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय,
खलस्य; साधोर्विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय।

'विद्या प्राप्त कर ली, पढ़-लिख लिया और आरम्भ कर दिया झगड़ना। धन कमा लिया तो चढ़ गया नशा; आ गया अभिमान। शरीर में बल आ गया तो दूसरों को दबाना, कष्ट देना आरम्भ कर दिया। कौन करता है यह सब-कुछ?—वह, जो खल है, दुष्ट है, पापी है, गुनहगार है। परन्तु यही वस्तुएँ जब किसी साधु के पास, किसी अच्छे आदमी के पास, भले आदमी के पास आती हैं तो क्या होता है? वह अपनी विद्या के द्वारा दूसरों को ज्ञान देता है, अपने धन से दूसरों को दान देता है, अपने बल से दूसरों की रक्षा करता है।'

यह है अच्छे और बुरे आदमी में अन्तर! इसलिए धन के मद को अपने मस्तिष्क पर मत चढ़ने दो! यह धन तुम्हारा नहीं है।

परन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि धन कमा लिया है तो मक्खीचूस बन जाओ और न दूसरों को खाने दो, न स्वयं खाओ। जैसाकि वेद-मन्त्र ने कहा, **'मा गृधः कस्य स्वित् धनम्'**—धन का लालच मत कर! यह धन तेरा नहीं है, प्रजापति का है।

उसी ने यह भी कहा कि **'भुञ्जीथाः'**—'भोग इस धन को!' भगवान् ने इतने पदार्थ बनाए हैं—यह दूध, मलाई, रबड़ी, खोया,

रसगुल्ले, इमरती, जलेबी; ये केले, संतरे, सेब, आम, अमरूद; ये भाँति-भाँति के अनाज, सब्ज़ियाँ—ये तेरे लिए हैं; प्रयोग में ला इनको। ऐसे ही रोनी सूरत बनाकर मत बैठा रह !

अब तो कितने ही फल हमारे देश में उत्पन्न होने लगे हैं। आन्ध्र-प्रदेश में अंगूर का एक दाना भी नहीं होता था, अब वहाँ बहुत मीठे अंगूरों के इतने बाग़ हैं कि अंगूरों की जैसे बाढ़ आ गई है। गत वर्ष मैं बम्बई में था तो आन्ध्रप्रदेश और मैसूर के अंगूर वहाँ बारह आने किलो के भाव से बिक रहे थे। और फिर पंजाब में भी अंगूर होने लगा है, हरियाणा में भी, आपकी दिल्ली में भी।

आन्ध्र प्रदेश में अंगूरों की उपज इतनी बढ़ गई है कि वहाँ अंगूर उपजानेवालों ने अपनी एक ऐसोसिएशन बनाकर सरकार से माँग की है कि या तो उन अंगूरों को देश से बाहर भेजने की व्यवस्था की जाय, या यहाँ शराब के कारखाने खोल दे ताकि अंगूरों से शराब बनाई जा सके। इन्होंने यह भी कहा, 'फ्रांस हिन्दुस्तानी अंगूरों की शराब खरीदने के लिए तैयार है। स्पष्ट है कि सरकार इस माँग को मानने का निषेध नहीं कर सकती। ये कारखाने वहाँ खुल रहे हैं। हिन्दुस्तानी अंगूरों की शराब फ्रांसीसी पियेंगे और कुछ-न-कुछ इस देश के लोग भी पियेंगे। शायद आपमें से भी किसी का जी कर आया होगा ! मैं पीने से रोकता नहीं। पीना चाहते हो तो पीओ। मैं स्वयं भी तो पीता हूँ, दूध पीता हूँ, पानी पीता हूँ, कभी-कभी छाछ भी पीता हूँ। हाँ, कोका-कोला नहीं पीता। मैंने सुना है कि इससे दाँत ख़राब हो जाते हैं। परन्तु तुम पीना चाहते हो तो पीओ। मैं किसी को रोकता नहीं।

परन्तु आजकल तो पीने का अभिप्राय एक ही समझा जाता है। बस वही; क्या भला ? (किसी ने कहा, 'शराब।' स्वामी जी बोले—) हाँ, वही। और स्वराज्य मिलने के पश्चात् तो शराब पीने का व्यसन इतना बढ़ गया है कि पूछो मत ! पहले ये मेरी बिटिया नहीं पीती थीं; अब इनमें से भी कई पीने लगी हैं। कहती हैं—यह तो सोमरस है। कितना अच्छा रंग है ! दुर्गन्ध है तो क्या हुआ ? नाक बन्द करके पी लो।

यह धन की वृद्धि और धन के ग़लत प्रयोग का परिणाम है। इसके

कारण बुराइयाँ बढ़ रही हैं; यह पीने की बुराई बढ़ रही है। परन्तु यह पीना, अन्त में, क्या पीना है ? प्रातः पी तो सायंकाल उतर गई; सायं पी तो प्रातःकाल उतर गई; दुर्गन्ध इसके अतिरिक्त; रोग अतिरिक्त। अरे ! पीनी है तो वह शराब पीओ जिसके सम्बन्ध में वेद कहता है—

सुरा त्वमसि सुष्मिणी

'हे भगवन् ! तेरे पवित्र नाम की शराब मन में आनन्द को जगा देती है।' यह शराब पी मीराबाई ने और आज भी उसके ईश्वर-भक्ति के गीत सुननेवालों को मस्त कर देते हैं। यह शराब पी मूलशंकर ने, भगवान् शिव के नाम की शराब, शिव-दर्शन के प्यार की शराब जो जीवन-भर नहीं उतरी। ऐसी शराब पीओ ! वह शराब क्या हुई कि प्रायः पीओ तो सायं उतर जाय, सायंकाल पीओ तो प्रातःकाल उतर जाय !

भाँग धतूरी सुरापान उतर जाय परभात।
नाम खुमारी 'नानका' चढ़ी रहे दिन रात॥

यह नाम-खुमारी की शराब पीओ ! फिर देखो कैसी मस्ती है इसमें !

शराब चढ़कर उतरनेवाली
पिलाई तो क्या पिलाई साक़ी !
जो चढ़ के इक बार फिर न उतरे,
वो मय पिलाए तो हम भी जानें !

मीराबाई ने कहा था—

और सखी मद पी-पी माती,
मैं बिन पिये ही मदमाती।
प्रेम भगती को मैं मद पीओ,
और छकी रहूँ दिन-राती॥

और फिर मीराबाई ने यह भी कहा था—

चन्दा जाएगा, सूरज जाएगा,
जाएगी धरती - आकाश,

जल औं' पवन दोनों ही जाएँगे,
और अटल रहे अविनाश ॥

मैं नैरोबी में कथा कह रहा था; मीराबाई के ये वचन सुनाते हुए मैंने आजकल की शराब की चर्चा की तो कहा, 'शराब आदमी के भीतर जाती है तो बुद्धि बाहर आ जाती है।'

उस समय मेरे समीप बैठे हुए एक सज्जन ने कहा, 'नहीं स्वामी-जी! शराब तो पीते ही वे लोग हैं जिनमें बुद्धि होती ही नहीं; उनका बाहर क्या आएगा ?'

मैंने कहा, 'ठीक कहते हैं आप! जिसमें बुद्धि होगी, जो भले-बुरे को सोच सकता है, वह शराब पीयेगा ही क्यों ?'

उसी रात एक युवक मेरे पास आया; बोला, 'स्वामी जी! मैं तो समझता था कि आप मॉडर्न संन्यासी हैं; मॉडर्न युग की बात कहेंगे; आपने तो शराब पीने का ही विरोध करना आरम्भ कर दिया! अमेरिका पीता है; कई दूसरे देशवाले पीते हैं; कितनी उन्नति की है उन्होंने!'

मैंने कहा, 'हाँ भाई, उन्नति तो की है, परन्तु उनका घरेलू जीवन तो देखो!'

ब्रिटेन से प्रकाशित एक समाचारपत्र मैंने उस युवक को दिखाया। उसमें लिखा था—केवल इंग्लैंड और वेल्ज़—इन दो क्षेत्रों में ३८ हज़ार कुमारी लड़कियों के बच्चे पैदा होते हैं।

मैंने कहा, 'क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारे परिवार में यह दशा उत्पन्न हो जाय ? चाहते हो तो पीओ, मैं कब रोकता हूँ ?'

उस समय वह चुप होकर चला गया।

प्रातःकाल वह फिर वहाँ आ गया जहाँ मैं ठहरा था; बोला, 'रात आपने मुझे ऐसे ही टाल दिया। उस समय वाद-विवाद के लिए मेरे पास बहुत समय भी नहीं था; मुझे नाइट-क्लब में जाना था। अब मैं आपसे बात करने आया हूँ और पीकर आया हूँ।'

मैं डरा कि यह शराबी पता नहीं क्या कर बैठे! सँभलकर बैठ गया। वह बोला, 'आपने रात को मीराबाई का मन्त्र सुनाया था न ?'

मैंने कहा, 'मन्त्र नहीं, मीराबाई का भजन सुनाया था—

चन्दा जाएगा, सूरज जाएगा,
जाएगा धरती - आकाश।
जल औ' पवन दोनों ही जाएँगे,
और अटल रहे अविनाश॥

वह बोला, मैंने भी एक मन्त्र बनाया है। आपको सुनाने के लिए आया हूँ; सुनिये—

किसकी रही है और किसकी रह जाएगी!
सारे मर जाएँगे, व्हिस्की रह जाएगी।

अब बताइये, ऐसे लोगों को कोई समझाएगा कैसे? कबीर ने कहा था—

औगुण कहूँ शराब का, ज्ञानवान् सुन लेय।
मानस से यह पशु करे, द्रव्य गाँठ का लेय॥

एक तो मनुष्य से पशु बना देती है, और फिर गाँठ का पैसा भी जाता है। अरे! वह 'अनमोल सुरा' क्यों नहीं पीते जिसकी मस्ती चढ़ जाय तो फिर कभी उतरती ही नहीं—

आन अमल सब त्याग के, नाम-अमल जो खाय।
जिन 'कबिरा' भाजे भरम, और न कछू सुहाय॥

यह भी तो कहा है—

भिद्यन्ते सर्व ग्रन्थानि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

'जब उस अपरम्पार पारावार के दर्शन हो जाते हैं तो खुल जाती हैं सब गाँठें; छूट जाते हैं सब भ्रम।' फिर तो उसके अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। ऐसा नशा होता है यह कि फिर और कोई नशा सुहाता नहीं—

'कबिरा' प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रम रहा, और अमल क्या खाय॥

अंग-अंग में तो प्रभु-प्यार का अमृत भर गया, अब किसी दूसरे नशे के लिए स्थान ही कहाँ रहा!

यह सब-कुछ सुनकर भी जो लोग शराब पीते और इस प्रकार के दूसरे नशे करते हैं तो क्यों ? इस कारण कि उनके पास उससे अधिक धन हो गया है जितना उनके पास होना चाहिए। इस कारण भी धन का प्रयोग जैसा करना चाहिए था, वैसा उन्होंने नहीं किया। मैं नशे के विषय में कह रहा था न, परन्तु नशा केवल शराब, अफ़ीम, गाँजा, चरस तथा इसी प्रकार की वस्तुओं का ही नहीं होता; कई लोग नशे के लिए संखिया भी खाते हैं। रणवीर को फाँसी का आदेश सुनाया गया और फाँसी की कोठरी में उसको रहना पड़ा तो उसने मुझे बताया कि वहाँ एक जेल-वार्डर है जो सर्दियों की ठिठुराती रात में ठंडे पानी से नहाता है; नहाता नहीं तो उसको चैन नहीं पड़ता। और देखिये, लाहौर में जो सर्दी पड़ती थी, वह दिल्ली की सर्दी से बहुत अधिक होती थी। लाहौर में गर्मी भी बहुत पड़ती थी, सर्दी भी बहुत। मुझे याद है, सर्दियों की रात में कई बार हम लोग थाली में पानी डालकर खुली छत पर रख देते थे। प्रातः तक वह बर्फ बन जाता था। दिल्ली में न सर्दी बहुत होती है, न गर्मी। दोनों डरी-डरी सहमी-सहमी-सी रहती हैं। लाहौर की उन सर्दियों की रात में उस वार्डर को नंगधड़ंग होकर आधी रात के समय ठंडे पानी से नहाते देख रणवीर ने पूछा, 'यह तुम क्या करते हो, संतरी जी ?'

संतरी ने कहा, 'गर्मी बहुत लगती है।'

रणवीर ने पूछा, 'तुम कैसे आदमी हो ? तुम्हें दिसम्बर की ठिठुराती रातों में गर्मी लगती है ?'

तब उस वार्डर ने बताया कि वह संखिया खाता है। आरम्भ में संखिया का एक टुकड़ा लेकर उससे नाखुन पर हल्की-सी लकीर डालता था और उसको चाट लेता था। फिर दो लकीरें चाटनी आरम्भ कर दीं। इसी प्रकार मात्रा बढ़ाता गया। फिर सरसों के दाने के बराबर संखिया खाने लगा। फिर मूँग के दाने के बराबर, फिर चावल जितना। अब वह वार्डर तीन-तीन चनों के बराबर संखिया खाता है, तब जाकर नशा होता है; मरता नहीं है, परन्तु गर्मी इतनी लगती है कि सर्दी की ठिठुराती रातें भी उसको भट्टी के समान जलती अनुभव होती हैं।

सो लोग उस संखिया को भी नशे के लिए खाते हैं जिसको खाकर साधारण आदमी मर जाता है। इसी कारण मैंने कहा कि नशा केवल शराब आदि का ही नहीं होता, नशा तो कई प्रकार का है—

मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जाने कोय,
तन-मद, मन-मद, जाति-मद, माया-मद सब लोय।
विद्या-मद और गुणहि-मद, राज-मद, ग्रान-मद,
इतने मद को रोक दे, तब पावे ग्रनहद ।।

ये सारे नशे जब दूर होते हैं तब ग्रनहद का नशा मिलता है, जो ग्रनन्त है। तभी प्रभु के दर्शन होते हैं। परन्तु इनमें सबसे बड़ा नशा है धन का। धन कमाग्रो ग्रवश्य; परन्तु इसको ग्रच्छे कामों में खर्च करो। नहीं तो शराब की बुरी ग्रादत तथा दूसरी कई बुरी बातें ग्राएँगी। तुम्हारा ही कमाया हुग्रा धन तुम्हीं को नरक में ले-जाने का कारण बन जाएगा। धन कमाया है तो उसको दूसरों की भलाई के लिए खर्च करो, वेद का प्रचार करने के लिए दो, वेद का संसार की भाषाग्रों में ग्रनुवाद करने के लिए दो, जिससे यह संदेश ग्रधिक-से-ग्रधिक मनुष्यों तक पहुँच सके ग्रौर ग्रधिक-से-ग्रधिक मनुष्यों का कल्याण हो। है कोई माई का लाल जो कहे कि मैंने कमाया है धन, मैं वेद का ग्रनुवाद करने के लिए एक करोड़ रुपया देता हूँ, पचास लाख देता हूँ, दस लाख देता हूँ ?

रणवीर अमेरिका गया तो उसने लौटकर मुझे एक बात सुनाई। फ़िलाडेल्फ़िया ग्रमेरिका का एक ऐसा बड़ा नगर है, जहाँ ग्रमेरिका-वासियों ने ब्रिटेन से विद्रोह करके ग्रमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा की थी। इस नगर में रणवीर एक अमेरिकन के घर खाना खाने गया। हरा-भरा बाग़ था उसका। ये उसमें बैठकर खाना खा रहे थे तो इस ग्रमेरिकन ने रणवीर से पूछा, 'ग्रमेरिका में क्या देखा तुमने ?'

रणवीर ने कहा, 'देखा कि धन-वैभव बहुत है।'

ग्रमेरिकन भाई ने प्रश्न किया, 'यह धन क्यों है ?'

रणवीर ने उत्तर दिया, 'ग्रमेरिकन परिश्रमी बहुत हैं, इस कारण उनके पास धन है।'

अमेरिकन सज्जन ने कहा, 'नहीं; मैं तुम्हें बताता हूँ कि अमेरिका में धन अधिक क्यों है।' और वह उठकर अपने घर में चला गया। एक बहुत बड़े कमरे में दीवारों के साथ-साथ ऊँची-ऊँची अलमारियों में रक्खी पुस्तकों को दिखाकर बोला, 'ये सब बाइबल की पुस्तकें हैं। प्रतिवर्ष मैं ३० हज़ार डॉलर व्यय करता हूँ, संसार की किसी-न-किसी नई भाषा में बाइबल का अनुवाद कराके छपवा देता हूँ। और फिर जिस देश व प्रदेश की वह भाषा है, वहाँ उस बाइबल की प्रतियाँ बिना मूल्य बँटवा देता हूँ।'

रणवीर ने बताया कि वहाँ उसने संसार के दूसरे देशों की भाषाओं के अतिरिक्त भारत की कई ऐसी भाषाओं में मुद्रित बाइबल दिखाई जिनका नाम भी मुझको ज्ञात न था।

यह है धर्म-प्रचार का ढंग ! यह है धन का ठीक उपयोग !

तूने यदि धन कमाया है, मेरे भाई, तो अच्छी बात है। परन्तु वेद कहता है—**'मा गृधः'**—'इसका लालच मत कर !' इसको अपने पास मत रख ! यह तेरे साथ जाएगा नहीं; यहीं रह जाएगा। कोई लेकर गया है आज तक ? सब-कुछ यहीं रह जाता है, आदमी चला जाता है—

आई अजल तो आप अकेले चले गए।
सब-कुछ था जमा घर में, मगर कुछ न ले गए॥

कोई लेकर गया है कभी ? कोई सोफ़ा, कोई कौच, कोई मेज़, कोई पलँग, कोई रेडियो, ट्रांज़िस्टर, टेलिविज़न ? कभी ऐसा हुआ कि कोई अपनी मोटर को साथ ले गया ? बाग़ को, खेत को, ज़मीन को, कोठी या बँगले को ?

नहीं बाबा, कभी कोई कुछ ले नहीं गया। कभी कुछ भी किसी के साथ जाता नहीं। दूसरी वस्तुओं की तो बात भी मत करो, यह अभागा शरीर भी तो साथ नहीं जाता जिसको पालने, पोसने, खिलाने, बहलाने सजाने, सँवारने में सारा जीवन लगा देते हैं।

गत वर्ष मैं पैरिस में था। एक दिन कॉस्मैटिक फ़ैक्टरी देखने गया; लगभग दो मील के घेरे में फैली हुई है यह फ़ैक्टरी। साज-शृङ्गार के प्रत्येक प्रकार के प्रसाधन वहाँ तैयार हो रहे थे। ये देवियाँ लगाती हैं

न, कई प्रकार के पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक, नेलपॉलिश, यह पॉलिश, वह पॉलिश; और फिर आजकल के तो पुरुष भी लगाते हैं। कई ऐसी वस्तुएँ वहाँ तैयार होती हैं। मैंने फ़ैक्टरी देख लेने के पश्चात् मैनेजर से पूछा, 'क्यों महोदय ! आपके यहाँ जो सामान तैयार होता है, उसमें से यदि कोई आदमी चाहे कि वह एक प्रकार की एक ही वस्तु खरीदे तो सब मिलाकर कितने का बिल बन जायगा ?'

उन्होंने सोचते हुए कहा, 'यदि एक प्रकार की एक ही वस्तु खरीदी जाय और प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ खरीदी जायँ तो सब मिलाकर लगभग एक हज़ार पौंड का बिल बन जाएगा।'

एक हज़ार पौंड का अर्थ हुआ लगभग बीस हज़ार रुपए।

इतना व्यय होता है इस शरीर के बनाव-शृङ्गार में। और फिर यह अभागा भी साथ नहीं जाता। भाई, इनका लालच मत करो ! इनका संचय करने का यत्न मत करो !

तब क्या करो ? वेद कहता है—**'भुंजीथाः'**—'काम में लाओ इसको, अपने भोग में !' परन्तु कैसे भोग करो इसका ? वेद कहता है **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'** इसका एक अर्थ तो यह है कि 'इसका, अर्थात् यह ईश्वर का त्यागा हुआ, दिया हुआ धन है, इसलिए अपने प्रयोग में लाओ; इससे काम लो !' इसका दूसरा अर्थ यह है कि 'ईश्वर का धन है; इसको भोगो अवश्य, परन्तु त्याग से भोगो !'

यह बात कई लोगों को बड़ी विचित्र लगेगी। एक ओर तो आदेश है कि धन का भोग करो; दूसरी ओर आदेश है कि धन का त्याग करो। ये दो बातें तो परस्पर-विरोधी हैं !

तब वेद-वाक्य का वास्तविक तात्पर्य क्या है ?

किसी वस्तु को प्रयोग में लाने, भोगनें की दो विधियाँ हैं—एक तो भोगने के लिए भोगना; दूसरा त्याग के लिए भोगना।

भोगने के लिए भोगना क्या है ? यह कि क़िसी वस्तु को इन्द्रियों की भूख या प्यास मिटाने के लिए भोगा जाय; इसलिए भोगा जाय कि इन्द्रियों की तृप्ति हो जाय; उनकी आवश्यकता पूरी हो जाय। यह जिह्वा है न हमारी, यह रसीली, चटपटी, आनन्ददायक सुस्वादु

वस्तुएँ चाहती है। आपने डोसे तैयार कर लिये, रसगुल्ले तैयार कर लिये, समोसे तैयार कर लिये, पराँठे तैयार कर लिये, अच्छी-अच्छी सब्ज़ियाँ बना लीं, कुछ मिठाइयाँ, कुछ चटनी भी तैयार कर ली। अब बैठे आप इन वस्तुओं को खाने। खाते गए; परन्तु अन्ततः कब तक खाएँगे! पेट के भरते ही स्वादु-से-स्वादु भोजन भी बेस्वादु लगेगा। आप कहेंगे, 'भाई, अब और नहीं खाया जाता, तृप्ति हो गई अब।' यह भोगने के लिए भोगना है। इसकी एक सीमा है, उससे आप आगे नहीं जा सकते। जाएँगे तो रोगी हो जाएँगे।

और त्याग के लिए भोगना क्या है? यह कि दान देकर दूसरों की सहायता करने के लिए धन को या किसी भी वस्तु को प्रयोग में लाना। इसकी कोई सीमा नहीं। आप जितना चाहें देते जायँ। कोठी दान कर दीजिये; ज़मीन दे दीजिये; मोटर दे दीजिये किसी को; सोना, चाँदी, आभूषण, धन—जो भी देना चाहें देते जाइये; कभी आपके मन में यह भावना नहीं आएगी कि अब पेट भर गया, अब और नहीं चाहते। यह है त्याग से भोग करना!

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्!' इन थोड़े-से शब्दों में वेद ने संसार की सारी अर्थ-योजना, इकॉनॉमिक-प्लान बता दिया जिससे मानव का कल्याण हो सकता है। पहले कहा **'भुंजीथाः'** भोग करो!' यह भूमि है, यह जल है, यह सूर्य है, यह खेती-बाड़ी है। बाग़ लगाओ; फल उत्पन्न करो; सब्ज़ियाँ उगाओ; अनाज उपजाओ; दूसरी वस्तुएँ उत्पन्न करो; पशुओं का पालन करो; अच्छा दूध देनेवाले प्राणियों को पालो; उनके दूध से मक्खन, क्रीम, घी, दही, मलाई तैयार करो। परन्तु यह सब करके हाथ-पर-हाथ धरकर मत बैठ जाओ! भोगो इनको!

परन्तु भोगेगा कौन? जिसमें शक्ति होगी, वही इन वस्तुओं को प्रयोग में ला सकेगा। अमेरिका के मिस्टर फ़ोर्ड की दशा सुनाई थी कि वह बेचारा सब-कुछ होते हुए भी कुछ खा नहीं सकता था; शरीर में पाचन की शक्ति ही नहीं थी। इन-जैसे भाइयों से मिलता हूँ तो पूछता हूँ, सुनाओ भाई, जी कैसा है? शरीर कैसा है? खान-पान सब

ठीक से चलता है या नहीं ? तो कुछ सज्जन रोनी-सी आवाज़ में कहते हैं, 'क्या चलता है, स्वामी जी ! डॉक्टर ने सब-कुछ निषिद्ध कर रक्खा है। मुझे वह हृदय का रोग हो गया था न ! और मधुमेह तो पहले ही था। डॉक्टर ने चीनी खाने का निषेध कर दिया है। घी खाने और दूध पीने को अनुमति नहीं है। डॉक्टर तो कहता है कि रोटी भी कम-से-कम खाओ।'

अब बताओ, ऐसा आदमी करेगा क्या ? संसार में भोगने के पदार्थ बहुत-से हैं—सेब हैं, सन्तरे हैं, आम हैं, अंगूर हैं, नाशपातियाँ हैं, आलूबुखारे हैं, अंजीर हैं, खरबूज़े हैं, ऐसे कितने ही फल हैं, कितने ही अनाज हैं; फिर दूध, घी, मक्खन, मलाई, दही, लस्सी और कितनी ही दूसरी वस्तुएँ हैं। परन्तु इनका भोग वही कर सकता है, जिसके शरीर में शक्ति है।

गत दिवस मैं लन्दन के उस पत्रकार की बात सुना रहा था जिसने मुझसे पूछा था, 'आप खाते क्या हैं ?'

मैंने उत्तर दिया था, 'मैं मांस, अंडा, शराब, ब्रांडी, किसी का भी सेवन नहीं करता।'

इसपर उसने पूछा, 'फिर बल-वृद्धि के लिए कौन-सी वस्तु खाते हैं आप ?'

मैंने कहा, 'जब सारा संसार सो जाता है, तब रात्रि में तीन बजे छिप-छिपकर खाता हूँ एक वस्तु।'

उसकी रुचि बढ़ी। वह मेरे समीप आकर बोला, 'कौन-सी वस्तु ? मुझे भी बताओ !'

मैंने कहा, 'उस समय मैं अपने-आपको संसार से पृथक् करता हूँ, इस शरीर से भी पृथक् करता हूँ और अपने आत्मा को उस 'पॉवरहाउस' से जोड़ता हूँ कि जिसके बल से सारा संसार चलता है; सूरज, चाँद और तारे चलते हैं, करोड़ों ब्रह्माण्ड चलते हैं। उससे मुझे जो भोजन मिलता है, वह मेरी शक्ति को बनाए रखता है।'

वह बोला, 'यह विद्या तो मुझे भी सिखाइये।'

मैंने कहा, 'सीखो और अवश्य सीखो ! परन्तु पहले मांस, अंडा,

मछली, शराब, ब्राण्डी—ये सभी वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ेंगी ।'

वह बोला, 'तब तो मैं मर जाऊँगा ।'

मैंने हँसते हुए कहा, 'फिर मर जाओ ! करना तो चाहते हो मेरी विधि के अनुसार, बात मेरी मानना नहीं चाहते, तो फिर मैं क्या करूँ ?'

सुनो ! सुनो ! मेरी प्रार्थना सुनो ! यदि चाहते हो कि शरीर में शक्ति रहे तो इसके भीतर विद्यमान आत्मा को भी शक्ति देनी होगी। अन्तरात्मा यदि निर्बल होगा तो शरीर में भी शक्ति आएगी नहीं । और अब तो आज के वैज्ञानिक भी मानते हैं कि शरीर के प्रत्येक रोग का जन्म मन के भीतर होता है । अमेरिका के एक सज्जन हैं मिस्टर वेंट । उन्होंने एक पुस्तक लिखी है 'ओल्डेज एण्ड प्रिवेन्शन' (Oldage & Prevention) अर्थात् 'बुढ़ापा आता क्यों है और रोका कैसे जा सकता है ?' इस पुस्तक में वे लिखते हैं—

'चिकित्सा-विज्ञान इस बात को मानता है कि प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात् मानव-शरीर के सभी भाग—नस-नाड़ियाँ और दूसरे अंग—नए हो जाते हैं, पहलेवाले भाग समाप्त हो जाते हैं ।'

फिर वे कहते हैं कि 'शरीर में नई बननेवाली नस व नाड़ियाँ खराब होती हैं बुरे विचारों से, अनुपयुक्त चिन्ताओं से ।'

कभी गवर्नमेंट को गालियाँ देते हैं—'क्या कहें जी, इस गवर्नमेंट ने सारा प्रबन्ध ही बिगाड़ दिया है । और फिर देखो, काँग्रेस में फूट पड़ गई । और ये जनसंघवाले भी क्या हैं ? और ये कम्युनिस्ट तो हैं ही बुरे । और देखो न जी, महँगाई कितनी हो गई है !'

बस, हर घड़ी शिकायतें-ही-शिकायतें ! अरे, तुम्हें संसार में कोई अच्छी बातें भी दिखाई दीं या नहीं ? संसार में भला-बुरा सब-कुछ है । तुम भलाई को देखो ! अच्छाई की ओर देखो ! बुराई की ओर देखकर अपने-आपको उदास क्यों करते हो ?

ऐसे लोगों को कहते हैं, निराशावादी ! ऐसे को निराशा के अतिरिक्त आशा कभी दिखाई ही नहीं देती । एक ग्लास दूध से आधा भरा हुआ है, आधा खाली है । इन्हें आधा खाली हिस्सा तो दिखाई देता है, भरा हुआ सूझता ही नहीं ।

ठीक से चलता है या नहीं ? तो कुछ सज्जन रोनी-सी आवाज़ में कहते हैं, 'क्या चलता है, स्वामी जी ! डॉक्टर ने सब-कुछ निषिद्ध कर रक्खा है। मुझे वह हृदय का रोग हो गया था न ! और मधुमेह तो पहले ही था। डॉक्टर ने चीनी खाने का निषेध कर दिया है। घी खाने और दूध पीने को अनुमति नहीं है। डॉक्टर तो कहता है कि रोटी भी कम-से-कम खाओ।'

अब बताओ, ऐसा आदमी करेगा क्या ? संसार में भोगने के पदार्थ बहुत-से हैं—सेब हैं, सन्तरे हैं, आम हैं, अंगूर हैं, नाशपातियाँ हैं, आलू-बुखारे हैं, अंजीर हैं, खरबूज़े हैं, ऐसे कितने ही फल हैं, कितने ही अनाज हैं; फिर दूध, घी, मक्खन, मलाई, दही, लस्सी और कितनी ही दूसरी वस्तुएँ हैं। परन्तु इनका भोग वही कर सकता है, जिसके शरीर में शक्ति है।

गत दिवस मैं लन्दन के उस पत्रकार की बात सुना रहा था जिसने मुझसे पूछा था, 'आप खाते क्या हैं ?'

मैंने उत्तर दिया था, 'मैं मांस, अंडा, शराब, ब्रांडी, किसी का भी सेवन नहीं करता।'

इसपर उसने पूछा, 'फिर बल-वृद्धि के लिए कौन-सी वस्तु खाते हैं आप ?'

मैंने कहा, 'जब सारा संसार सो जाता है, तब रात्रि में तीन बजे छिप-छिपकर खाता हूँ एक वस्तु।'

उसकी रुचि बढ़ी। वह मेरे समीप आकर बोला, 'कौन-सी वस्तु ? मुझे भी बताओ !'

मैंने कहा, 'उस समय मैं अपने-आपको संसार से पृथक् करता हूँ, इस शरीर से भी पृथक् करता हूँ और अपने आत्मा को उस 'पॉवरहाउस' से जोड़ता हूँ कि जिसके बल से सारा संसार चलता है; सूरज, चाँद और तारे चलते हैं, करोड़ों ब्रह्माण्ड चलते हैं। उससे मुझे जो भोजन मिलता है, वह मेरी शक्ति को बनाए रखता है।'

वह बोला, 'यह विद्या तो मुझे भी सिखाइये।'

मैंने कहा, 'सीखो और अवश्य सीखो ! परन्तु पहले मांस, अंडा,

मछली, शराब, ब्राण्डी—ये सभी वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ेंगी।'

वह बोला, 'तब तो मैं मर जाऊँगा।'

मैंने हँसते हुए कहा, 'फिर मर जाओ! करना तो चाहते हो मेरी विधि के अनुसार, बात मेरी मानना नहीं चाहते, तो फिर मैं क्या करूँ?'

सुनो! सुनो! मेरी प्रार्थना सुनो! यदि चाहते हो कि शरीर में शक्ति रहे तो इसके भीतर विद्यमान आत्मा को भी शक्ति देनी होगी। अन्तरात्मा यदि निर्बल होगा तो शरीर में भी शक्ति आएगी नहीं। और अब तो आज के वैज्ञानिक भी मानते हैं कि शरीर के प्रत्येक रोग का जन्म मन के भीतर होता है। अमेरिका के एक सज्जन हैं मिस्टर बेंट। उन्होंने एक पुस्तक लिखी है 'ओल्डेज एण्ड प्रिवेन्शन' (Oldage & Prevention) अर्थात् 'बुढ़ापा आता क्यों है और रोका कैसे जा सकता है?' इस पुस्तक में वे लिखते हैं—

'चिकित्सा-विज्ञान इस बात को मानता है कि प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात् मानव-शरीर के सभी भाग—नस-नाड़ियाँ और दूसरे अंग—नए हो जाते हैं, पहलेवाले भाग समाप्त हो जाते हैं।'

फिर वे कहते हैं कि 'शरीर में नई बननेवाली नस व नाड़ियाँ ख़राब होती हैं बुरे विचारों से, अनुपयुक्त चिन्ताओं से।'

कभी गवर्नमेंट को गालियाँ देते हैं—'क्या कहें जी, इस गवर्नमेंट ने सारा प्रबन्ध ही बिगाड़ दिया है। और फिर देखो, काँग्रेस में फूट पड़ गई। और ये जनसंघवाले भी क्या हैं? और ये कम्युनिस्ट तो हैं ही बुरे। और देखो न जी, महँगाई कितनी हो गई है!'

बस, हर घड़ी शिकायतें-ही-शिकायतें! अरे, तुम्हें संसार में कोई अच्छी बातें भी दिखाई दीं या नहीं? संसार में भला-बुरा सब-कुछ है। तुम भलाई को देखो! अच्छाई की ओर देखो! बुराई की ओर देखकर अपने-आपको उदास क्यों करते हो?

ऐसे लोगों को कहते हैं, निराशावादी! ऐसे को निराशा के अतिरिक्त आशा कभी दिखाई ही नहीं देती। एक ग्लास दूध से आधा भरा हुआ है, आधा खाली है। इन्हें आधा खाली हिस्सा तो दिखाई देता है, भरा हुआ सूझता ही नहीं।

मेरा नाम जब खुशहालचन्द था, तब की बात है। मैं एक बार कश्मीर गया तो अपने एक मित्र को साथ ले गया। वह कभी किसी पहाड़ पर नहीं गए थे। पहले तो वह तैयार ही नहीं होते थे। बड़ी कठिनाई से तैयार हुए। कश्मीर के ऊँचे पहाड़ों को देखकर वे इस प्रकार घबरा गए, जैसे बहुत बड़ी आपद् आ गई हो। बोले, 'ये तो बहुत ऊँचे हैं।'

मैंने कहा, 'ऊँचे हैं तो तुम क्यों घबराते हो ? ये पहाड़ तुमको उठा ले-जाने को तो आयँगे नहीं।'

वे बोले, 'यदि गिर पड़े, तो ?'

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, 'सदियों से तो खड़े हैं; तुम्हारे ऊपर ही क्यों गिरेंगे ?'

एक स्थान पर बहुत घना जंगल था। मैंने कहा, 'देखो, कैसा सुन्दर जंगल है !'

वह बोले, 'इसमें शेर, चीते, रीछ, आदि भी तो होंगे ?'

एक स्थान पर बहुत शोभायमान नीले जल की झील थी। मैंने कहा, 'इसको देखो !'

वे बोले, 'इसको क्या देखना है ! ऐसे जौहड़ तो हमारे गाँव में भी हैं। यह कुछ बड़ा है, और क्या ?'

ऐसे लोगों का मन कभी प्रसन्न न रहे तो शरीर भी स्वस्थ नहीं रहता।

एक सज्जन आज प्रातःकाल मेरे पास आए और बोले, 'स्वामी जी ! आप प्रसन्न रहने की बात तो ठीक कहते हैं, परन्तु 'सर-कम-स्टान-सेस' ऐसी हो जाती हैं कि आदमी प्रसन्न रह नहीं पाता।'

मैंने आश्चर्य से कहा, 'यह सर-कम-स्टान्-सेस क्या विपदा हुई ?'

पता लगा कि उनका अभिप्राय परिस्थितियों से है। परन्तु यदि परिस्थितियाँ अच्छी हों और मनुष्य प्रसन्न रहे तो यह प्रसन्न रहना नहीं है। प्रसन्न रहने का अभिप्राय तो यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहे। घर में पैसा है, पत्नी है, बच्चे आज्ञाकारी हैं, सुहृद्-सखा सब विश्वस्त हैं, मकान अच्छा है; या पति महोदय-स्वयं बहुत अच्छे

हैं कि पत्नी प्रातः तक सोती रहती है तो वह स्वयं उठकर नाश्ता तैयार कर देते हैं; ऐसी परिस्थिति में तो प्रत्येक आदमी प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नचित्त रहने का वास्तविक अभिप्राय तो यह है कि आदमी परिस्थितियों की परवा किये बिना प्रसन्न रहे। जेब में पैसा नहीं; बीवी ऐसी लड़ाकू है जैसी ताड़का; या पति ऐसा मिल गया है जैसे आग का गोला—गाली दिये बिना बात ही नहीं करता। बच्चे शैतान हैं; किसी की सुनते ही नहीं। सखा-सुहृदों ने साथ तो दिया नहीं; इसके विपरीत विश्वासघात कर गए। ऐसी परिस्थिति में भी प्रसन्न रहनेवाले को 'प्रसन्न-चेता' कहते हैं—

दिल दे तो इस मिजाज का परवरदिगार दे,
जो रंज की घड़ी भी खुशी में गुजार दे !

जीना इसी को कहते हैं—

फूलों से घिरा रहता है चारों तरफ़ से फूल,
काँटों से घिरा रहता है चारों तरफ़ से फूल,
फिर भी खिला ही रहता है, क्या खुशमिजाज है !

अरे ! यदि कष्टों-आपदाओं (काँटों) ने घेर लिया है, तो भी फूलों के समान खिले रहो ! घबराते क्यों हो ? कष्ट तथा आपदाएँ यदि आई हैं तो चली भी जाएँगी; सदा तो कुछ भी नहीं रहता—

फिर बहार आएगी, आलम गुलफ़िशाँ हो जायगा।
ख़त्म आख़िर एक दिन दौरे-ख़िज़ाँ हो जायगा ॥

और फिर पतझड़ का चक्कर आज समाप्त हो या कल, शीघ्र हो या देर में, आदमी यदि आदमी है तो उसमें कोई गुण भी होना चाहिए—

बहार आय तो गुञ्चे भी मुस्कराते हैं,
बशर वो क्या जो मुसीबत में मुस्करा न सके !

यह है 'प्रसन्नचित्त' अर्थात् प्रसन्न रहने की परिभाषा ! और याद रक्खो कि जो आदमी प्रसन्न रहता है, वह बहुत कम रोगी होता है। रोगी भी हो जाय तो वह बहुत शीघ्र अच्छा हो जाता है। और जिनके मन प्रसन्न नहीं रहते, उन्हें जब देखो रोगी ! ऐसे ही एक महोदय मिले मुझे। मैंने पूछा, 'कहो, क्या हाल है ?'

उसने आधी रोनी आवाज़ में कहा, 'बहुत बीमार हूँ।'

मैंने कहा, 'रोगी हो तो रोते क्यों हो ? अच्छे भी हो जाओगे।'

उस आदमी ने कहा, 'कैसे हो जाऊँगा ? डॉक्टर तो कहता है कि बहुत बुरा रोग है !'

मैं बोला, 'तो भी चिन्ता की क्या बात है ? अधिक-से-अधिक तुम मर ही सकते हो ! एक मैं हूँ, तीन आदमी और बुला लूँगा; हम ले जाएँगे तुम्हें। तुम किस बात की चिन्ता करते हो ?'

यह 'प्रसन्नचित्त' रहने का ढंग नहीं है।

प्रसन्नचित्त रहने का ढंग तो यह है कि जो पदार्थ परमेश्वर ने दिये हैं उनको भोगो, परन्तु त्याग से भोगो। खूब कमाओ, खूब वस्तुएँ एकत्र करो; और फिर उनको बाँटकर भोगो। अपने सम्बन्धियों को दो; परन्तु ऐसे स्वार्थी सम्बन्धियों को नहीं जो तुमपर आपदा आते ही ये सोचते रहेंगे कि कब यह आदमी मरे, कब इसके धन पर अधिकार करें। भगवान् बचाएँ ऐसे सम्बन्धियों से ! परन्तु अच्छे सम्बन्धियों की, पड़ोसियों की, मुहल्लेवालों की, नगरवालों की, देशवासियों की, ग़रीब लोगों की, दुःखियों की सेवा करो। धन का भोग करो, परन्तु त्याग से भोग करो।

त्याग से भोग कैसे होता है, इस सम्बन्ध में मैं एक कहानी सुनाया करता हूँ, आप भी सुनिये !

एक थे पूजनीय वृद्ध माधो बाबा ! उनके साथ उनका एक चेला रहता था। एक दिन चेले ने पूछा, 'गुरु जी ! संसार में रहने का ढंग क्या है ?'

गुरु जी बोले, 'प्रश्न तो तुमने अच्छा किया, परन्तु इसका उत्तर एक-दो दिन में दूँगा।'

दूसरे दिन गुरु जी के पास एक आदमी आया। वह उनके लिए कई प्रकार की मिठाइयाँ लाया, कई प्रकार के फल भी। गुरु जी ने मिठाई ले ली, फल भी ले लिये, और जिधर वह भगत बैठा था, उससे दूसरी ओर मुँह करके सब फल खा गए, मिठाई भी खा गए। पर उस आदमी से बात भी नहीं की। अन्त में तंग आकर वह आदमी चला गया।

उसके जाने के पश्चात् गुरु जी ने चेले से पूछा, 'क्यों भाई ! यह जो आदमी मिठाई लाया था, यहाँ से प्रसन्न होकर गया है अथवा अप्रसन्न ?'

चेले ने कहा, 'वह तो अत्यन्त अप्रसन्न था, गुरु जी ! कहता था—यह अद्भुत मनुष्य है ! मेरी लाई हुई मिठाई खा गया, फल खा गया, परन्तु मुझसे बात तक नहीं की !'

गुरु जी बोले, 'तो फिर देखो भाई ! संसार में रहने का यह ढंग ठीक नहीं है।'

अगले दिन एक दूसरा आदमी आया। वह भी अपने साथ बहुत-सी मिठाई और बहुत-से फल लाया। गुरु जी ने मिठाई तथा फल दोनों उठवाकर बाहर गली में फिकवा दिये और उस आदमी से बड़े प्यार से बातें करने लगे; बोले, 'सुनाओ भाई, तुम्हारा शरीर तो अच्छा है ? परिवार तो प्रसन्न है ? कामकाज तो ठीक चलता है न ? तुम्हारी गाय तो अच्छी तरह दूध देती है ? तुम्हारा घोड़ा तो ठीक काम करता है ? मोटर तो लँगड़ी नहीं हो गई ? गवर्नमेंट तो तंग नहीं करती तुम्हें ?' ऐसी कितनी ही बातें पूछ डालीं उन्होंने।

अन्त में वह गया तो गुरु जी ने पूछा, 'क्यों भाई, यह आदमी तो प्रसन्न गया ?'

चेले ने कहा, 'नहीं गुरु जी ! यह आदमी तो कलवाले से भी अधिक अप्रसन्न था। कहता था—कैसा साधु है यह ! मुझसे बात करता रहा और मैं इतना खर्च करके जो फल और मिठाइयाँ लाया था उन्हें उठाकर गली में फिकवा दिया !'

गुरु जी बोले, 'तो सुनो भाई, संसार में रहने का यह ढंग भी ठीक नहीं है।'

उससे अगले दिन एक और आदमी आया। उसके साथ भी बहुत-से फल थे, मिठाइयाँ थीं। उसने ये दोनों वस्तुएँ साधु बाबा के सामने रख दीं। साधु बाबा ने मिठाई की पोटली खोली और थोड़ी-थोड़ी मिठाई सभी लोगों में बाँट दी। उस आदमी को भी मिठाई दी; बोले, 'तुम भी प्रसाद लो !' और फिर स्वयं भी उन्होंने मिठाई खाई

को भी इसी प्रकार बाँटा और स्वयं भी खाए। और फिर उस आदमी की प्रशंसा करते हुए बोले, 'बहुत अच्छी वस्तुएँ लाए हो तुम। अब बताओ, तुम्हारे परिवार में सब प्रसन्न तो हैं ? बेटे तुम्हारे कहने में चलते हैं न ? बेटियाँ अपने घरों में प्रसन्न हैं न ? तुम्हारी पत्नी तो अच्छी है न ? काम-धन्धे में लाभ होता है न ? सरकारी अधिकारी तंग तो नहीं करते ? तुम्हारे मित्र व सम्बन्धी तो सब सुखी हैं ? मन में कोई चिन्ता तो नहीं होती ?'

इस प्रकार बड़े प्यार से वह बातें करते रहे। अन्त में जब वह भी चला गया तो गुरु जी ने चेले से पूछा, 'क्यों भाई, यह आदमी प्रसन्न गया या अप्रसन्न ?'

चेले ने कहा, 'यह तो बहुत प्रसन्न था, गुरु जी ! आपकी बहुत प्रशंसा करता था।'

गुरु जी बोले, 'तो सुनो, बेटे ! संसार में रहने का ठीक ढंग यही है। कल और परसों जो कुछ किया था, वह ढंग ठीक नहीं था।'

यह है त्याग से भोग ! आजकल के संसार ने पहला ढंग अपना रक्खा है। भगवान् की दी हुई मिठाई का, फलों का, दूसरी वस्तुओं का भोग तो करते हैं, परन्तु भगवान् से बात तक नहीं करते। बड़े-बड़े धनी सब यही किये जाते हैं; वे भूल जाते हैं कि—

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

'इस संसार में जो कुछ है, वह ईश्वर का है, वह उसका दिया हुआ है।' उसकी दी हुई वस्तुओं को प्रयोग में लाते हो और उसका नाम तक नहीं लेते ? यह ढंग क्या हुआ ?

कोई आदमी आपकी गिरी हुई साधारण-सी पेंसिल उठाकर दे तो आप उसे कहते हैं, 'थैंक यू !'—'धन्यवाद आपका।' परन्तु जिसने इतना सब-कुछ दिया है, उससे आप मुँह फेरकर बैठे हो ? इस वायु को ही लो ! बड़ा अभिमान है तुम्हें अपनी कोठियों का, अपने फ़र्निचर का, अपनी मोटर का, अपनी दुकान का, अपने कारख़ाने का। परन्तु यदि यह वायु क्षण-भर के लिए ही समाप्त हो जाय तो कहाँ होंगी ये सब वस्तुएँ ? कहाँ होगा यह संसार ? कहाँ होंगे ये सब लोग ? दूसरे

ही क्षण में सबका अन्त हो जाएगा। इस भूमि पर चारों ओर लाशें ही-लाशें पड़ी होंगी।

चाँद पर गये थे न अमेरिका के अन्तरिक्ष-यात्री, दो आदमी पहुँचे वहाँ छः खरब रुपया व्यय करके। परन्तु वहाँ छः घण्टे भी ठहर नहीं सके; कारण कि चाँद पर वायु ही नहीं है। साँस लेने के लिए वायु वे अपने साथ ले गए थे; ऐसा न करते तो चाँद पर एक सैकंड भी ठहर नहीं सकते थे। वहाँ बसने की तो बात ही क्या, वे लौटकर भी नहीं आ सकते थे; वहीं पर समाप्त हो जाते।

और फिर यह पानी ! यदि यह एक दिन भी आदमी को न मिले तो मनुष्य की दशा क्या हो जाएगी ? इतनी बहुमूल्य वस्तु जिसने दी है, उसकी ओर देखे बिना, उसको याद किये बिना, उससे बात किये बिना यदि हम इन वस्तुओं का उससे मुँह मोड़कर उपभोग करें तो बताइये, हमारा यह करना ठीक कैसे है ? भगवान् की इस कृपा का उत्तर क्या है कि हम उसकी ओर देखते तक नहीं ? यह बात स्मरण रक्खो—

'हे अग्ने स्वहितं प्रियाः संसतु सूर्याः'

'हे अग्निदेव ! हे ईश्वर ! तूने अपनी सबसे प्यारी वस्तुएँ हमारे कल्याण के लिए दे दी हैं।'

कितनी प्यारी वस्तुएँ हैं; यह देखना है तो जंगलों में, बाग़ों में, खेतों में जाकर देखो। मेरे एक भूस्वामी (ज़मींदार) मित्र हैं। एक दिन अपनी ज़मीन दिखाते हुए वे मुझे उस भाग में ले गए जहाँ उन्होंने तरबूज़ लगा रक्खे थे। बहुत मीठे, बहुत स्वादु तरबूज़ थे वे। मैंने खाए बाद में। डूबते हुए सूरज के समान लाल, शहद-सरीखे मीठे, और बड़े-बड़े इतने कि एक-एक तरबूज़ दस-दस किलो का होगा।

ज़मींदार सज्जन ने कहा, 'स्वामी जी ! मैं इन तरबूज़ों को देखता हूँ तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। छोटे-छोटे बीज थे जो मैंने बोए; मटर के दाने-जितने बीज। प्रत्येक बीज से एक-एक बेल लगी। प्रत्येक बेल फैलने लगी। प्रत्येक बेल पर कई-कई तरबूज़ लगते गए। धीरे-धीरे बड़े-बड़े हुए—इतने बड़े कि इन्हें उठाते समय भी बल

लगाना पड़ता है। परन्तु यह सब हो कैसे गया ? तरबूज़ में रंग है, मिठास है, मिट्टी से बना है यह। मिट्टी थी यहाँ; उसने धीरे-धीरे तरबूज़ का रूप धारण कर लिया; तरबूज़ का शरीर अपना लिया। परन्तु यह रंग तो मिट्टी में था नहीं; यह मिठास तो थी नहीं; यह स्वाद तो था नहीं; यह सब कहाँ से आ गए ?'

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया, 'इस मिट्टी के भीतर भगवान् की शक्ति-रूपी कृपा जो बैठी है, उसके कारण।'

और इसी कल्याणकारिणी कृपा से क्या-कुछ होता है ! गन्दे-सड़े काले-से कीचड़ से सनी भूमि के भीतर से अति सुन्दर फूल जाग उठते हैं। किन्तु उस कीचड़ में तो यह रंग नहीं था; यह सुगन्ध नहीं थी; यह कोमलता नहीं थी। कीचड़ को कोई हाथ लगाना तक भी पसन्द नहीं करता, जबकि फूल को लोग आँखों से लगाते हैं; बालों में सजाते हैं; माला बनाकर गले में पहनते हैं।

यह सब-कुछ कैसे हुआ ?

भगवान् की उसी कल्याणकारिणी कृपा से जो कण-कण में व्याप रही है; जो कीचड़ को फूल में परिवर्तित कर देती है; मिट्टी को तरबूज़, खरबूज़ा, खीरा, ककड़ी, आलू, कचालू, अरबी, मूँगफली, अंगूर, सेब, आम, नाशपाती, अनन्नास, चीकू, संतरे, नींबू, अमरूद, अनार, तथा और कितने ही रूपों में परिवर्तित कर देती है। इतनी कृपा जिसने की; इतनी प्यारी वस्तुएँ जिसने दीं; उससे यदि मुँह मोड़कर बैठ जाओ तो क्या वह प्रसन्न होगा ?

नहीं, यह ढंग ठीक नहीं है। संसार में रहने का यह ढंग ठीक नहीं है।

अच्छा तो फिर क्या वह ढंग ठीक है, जो साधु बाबा ने दूसरे दिन अपनाया ? इस ढंग को अपनाते हैं वे लोग जो संसार से विरक्त होकर पहाड़ों और जंगलों में जाकर हर घड़ी भगवान् का ही स्मरण करते हैं। मुझे तो लगता है कि भगवान् भी उनसे ऊब जाता होगा। यह भी क्या भक्ति हुई कि हर घड़ी भगवान् के पीछे पड़े रहो। और भगवान् ने जो इतनी सुन्दर यह सृष्टि रची है, इतनी सुन्दर वस्तुएँ

उत्पन्न की हैं, उनसे मुँह मोड़ लो ? सच तो यह है कि वे लोग, जो जंगलों और पहाड़ों में जा बैठते हैं, वे भी हर समय भगवान् का स्मरण नहीं कर सकते। हर समय, चौबीसों घण्टे भगवान् का स्मरण करते रहना सम्भव नहीं है। वे लोग बेकार बैठे रहते हैं, केवल निकम्मे होकर। जब भक्ति ही नहीं करते, तब न अपना भला करते हैं न दूसरों का। संसार में रहने का यह ढंग भी ठीक नहीं है।

तब क्या ठीक है ? वह तीसरे दिन का मार्ग। यह कि भगवान् ने जो कुछ दिया है, उसको—**त्यक्तेन भुंजीथाः**—बाँटकर खाओ। दूसरों की सहायता भी करो। जो भूखे हैं, ग़रीब हैं, असहाय हैं, दुःखी हैं, उनमें बाँट दो धन को ! उनको ऊपर उठाने, सुखी बनाने का यत्न करो ! फिर आप भी खाओ। भगवान ने जो ये सुन्दर पदार्थ दिये हैं, इनसे घृणा मत करो और न अकेले खाओ ! न उन्हें छोड़कर जंगल में जा बैठो, अपितु सबके साथ मिलकर भोगो इन पदार्थों को ! धर्म के लिए खर्च करो, देश के लिए खर्च करो, समाज के लिए खर्च करो, अभावग्रस्तों के लिए खर्च करो, और अपने लिए भी खर्च करो। परन्तु साथ-ही-साथ उसको भी मत भूलो जिसने यह सब-कुछ दिया है, जिसका यह सब-कुछ है। याद करो उसको ! प्यार करो उसको ! उससे मिलने, उससे बातें करने, प्रेम और आनन्द से भरपूर उसकी गोद में बैठने का जतन करो ! मत भूलो इस बात को कि यह सब-कुछ तुम्हारा नहीं है—

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्।'

'यह सब ईश्वर का ही है।' तुमसे पहले भी यह विद्यमान था; तुम्हारे पश्चात् भी विद्यमान रहेगा। तुम्हें यह थोड़े-से समय के लिए मिला है तो इसी प्रयोजन से कि दूसरों में बाँटकर इसका भोग करो। आओ, उस प्रभु का स्मरण करो, जिस दयालु और कृपालु ने, जिस शंकर और शिव ने, जिस रहीम और करीम ने यह सब-कुछ दिया है।

यह है त्यागपूर्वक भोग करने का अभिप्राय। अच्छा, एक और उदाहरण सुनिये ! हैदराबाद के नवाब ने आदेश दिया कि हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज-मन्दिरों की मरम्मत नहीं होगी; हवन-यज्ञ नहीं

हो सकते; ओ३म् की पताका फहराने की अनुमति नहीं मिलेगी। जो कोई ऐसा करेगा उसको जेल में डाल दिया जायेगा। एक लज्जास्पद अत्याचार आरम्भ कर दिया उसने। आर्यसमाज ने निर्णय लिया कि यह तो धर्म-प्रचार पर आक्रमण है; इस आक्रमण तथा अत्याचार को आर्यसमाज सहन नहीं कर करेगा। यह आज से लगभग ३० वर्ष पहले की बात है। शोलापुर में आर्य-प्रतिनिधियों का एक विराट् सम्मेलन श्री अणे की अध्यक्षता में हुआ। उसमें यह निश्चय किया गया कि हम इस अत्याचार के विरुद्ध लड़ेंगे।

इसके साथ यह भी निश्चय हुआ कि शांतिपूर्ण सत्याग्रह को आरम्भ करने से पहले महात्मा नारायण स्वामी जी को सर्वाधिकारी (डिक्टेटर) बनाया जाय और उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हैदराबाद जाकर निज़ाम से मिलें; उसको प्यार से समझायें कि यह अत्याचार बन्द करना चाहिए।

महात्मा नारायण स्वामी इस अधिकार के साथ हैदराबाद की ओर चल पड़े। परन्तु अभी वे हैदराबाद में पहुँच भी नहीं पाये थे कि उन्हें पकड़ लिया गया। उनके साथियों को भी पकड़ लिया गया। तब आर्यसमाज का वह महान् सत्याग्रह आरम्भ हो गया जो अपनी उपमा आप ही था। देश के प्रत्येक भाग से आर्य-सत्याग्रहियों की स्पेशल रेल-गाड़ियाँ शोलापुर तथा दूसरे नगरों में पहुँचने लगीं। वहाँ से वे सत्याग्रही हैदराबाद रियासत में प्रविष्ट होते; प्रविष्ट होने के साथ ही वे सब पकड़ लिये जाते। अफ्रीका से स्पेशल स्टीमर सत्याग्रहियों को लेकर भारत में आए। कई दूसरे देशों से भी आर्य-सत्याग्रही आये। महात्मा नारायण स्वामी जी इस सत्याग्रह के प्रथम सर्वेसर्वा थे। अजमेर के श्री चाँदकरण शारदा द्वितीय सर्वेसर्वा बने। उनके पश्चात् यह उत्तर-दायित्व मुझे सौंपा गया। उस सत्याग्रह का तृतीय सर्वेसर्वा बनकर मैं पंजाब से अपने हज़ारों साथियों को लेकर हैदराबाद की सीमा पर पहुँचा। मेरे साथ गये साथियों-समेत २५ हज़ार सत्याग्रही क़ैद हुए। जेलों के भीतर हमारे पाँवों में लोहे का एक कड़ा डाल दिया जाता था, गले में एक तख्ती जिसपर क़ैदी का नाम लिखा रहता था; यह भी

कि उसको कितना लम्बा दण्ड दिया है ? उसकी उम्र क्या है ? इसके अतिरिक्त हमें जेल के कपड़े भी मिलते थे ।

मैं और मेरा जत्था शोलापुर से चले तो टिकट लिये हैदराबाद के । परन्तु रेलगाड़ी अभी गुलबर्गा स्टेशन पर ही पहुँची थी कि पुलिस आ गई । इसके अफ़सर एक अंग्रेज़ बहादुर थे; बोले, 'गाड़ी से उतर !'

मैंने कहा, 'क्यों उतरें ? हमने हैदराबाद के टिकट लिये हैं, यह तो गुलबर्गा है ।'

वह बोले, 'यह मेरा ऑर्डर है ।'

मैंने कहा, 'हम तुम्हारा ऑर्डर नहीं मानते ।'

वह बोले, 'नहीं मानते तो मैं बल का प्रयोग करूँगा ।'

मैंने कहा, 'बल-प्रयोग की बात कहते हो तो हम उतरते हैं; हम सत्याग्रही हैं । बल का सामना बल से करने नहीं आए, क़ैद होने के लिए आये हैं ।'

अब उतरे हम सब लोग । बसों में बैठाकर हमें गुलबर्गा जेल में भेज दिया गया ।

मैंने जेल के भीतर अपने जत्थे के लोगों को एकत्र कर कहा, 'देखो, मेरे भाइयो ! हम सत्याग्रही हैं । अपने बलिदान से अत्याचारी का मन बदलने के लिए आए हैं । यह कठोरता, यह कष्ट हमें हँस-हँसकर सहन करने होंगे । कैसा भी खाना मिले, वह खाना पड़ेगा; कैसा भी काम मिले, वह करना होगा, चाहे मूँज कूटनी और बटनी पड़े, चाहे चक्की पीसनी पड़े, सब-कुछ हमें करना होगा, और प्रसन्नता से करना होगा । हम लोग घर से त्याग करने आए हैं । इस त्याग की लाज रखनी होगी तुम्हें ।'

सायं-समय काँवरों पर, जिन्हें पंजाब में 'वहँगी' कहते हैं, रोटी और दाल लेकर जेल के अधिकारी आ गए ।

एक-एक 'तसला' और एक-एक 'चम्बू' उन्होंने हमें दे दिया था । 'तसला' इस प्रयोजन से कि उसमें दाल डाली जाय; 'चम्बू' इस प्रयोजन से कि उसमें पानी डाला जाय ।

हम लोग उस तसले और चम्बू को रगड़-रगड़कर चमकाते थे।

महात्मा नारायण स्वामी जी कहते थे, 'मेरा तसला और चम्बू अधिक चमकते हैं।'

मैं कहता, 'मेरे अधिक चमकते हैं।'

कई बार कई लोग हमारे चमकते तसले और चम्बू उठाकर, उनके स्थान पर अपने मैले तसले और चम्बू भी रख जाते थे। हम फिर उनको रगड़-रगड़कर चमकाना आरम्भ कर देते थे।

तो जी तसले मिल गए, चम्बू मिल गए।

हमारे हाथों में दो-दो रोटियाँ दे दी गईं। तसले में दाल डाल दी गई, चम्बू में पानी मिल गया।

परन्तु मैंने रोटी को खाने का यत्न किया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वह कल या परसों की नहीं, शायद सप्ताहों पहले की बनी हुई है। अत्यन्त कठिनाई से रोटी को तोड़ा। दाल में डाला तो उसमें दाना ही नहीं। ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने तालाब को गर्म करके उसमें नमक-मिर्च डाल दिये हों। उस दाल में भिगोकर रोटी का ठीकरा मुँह में डाला तो वह गले से नीचे ही नहीं उतरता था। थोड़ी देर के लिए क्रोध आया कि यह कैसी रोटी है ? परन्तु तभी अपने ही उपदेश का विचार आया कि जैसा भी खाना मिले उसको खाना होगा। और मैंने बत्तीस बार नहीं, शायद चौंसठ बार चबाया उसको। परन्तु साहब, वह तो गले के भीतर जाता ही न था। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे गले के भीतर किसी स्थान पर 'रोड क्लोज़्ड फ़ॉर रिपेयर' (Road closed for repair)—'सड़क मरम्मत के लिए बन्द है' लिखा हो। अन्त में चम्बू से पानी के घूँट पी-पीकर रोटी को गले से पार किया। खाना समाप्त करने से पहले चम्बू का सारा पानी समाप्त हो गया। इस दशा को देखकर हम कई बार गाते थे—

क्या-क्या मज़े दिखाती हैं निज़ामी रोटियाँ!
अन्दर से पतली-पतली हैं, बाहर से मोटियाँ!!
किनारे इनके जैसे हिमालय की चोटियाँ,

सीने में जाके चुभती हैं मानिन्द सोटियाँ!!
क्या-क्या मजे दिखाती हैं निज़ामी रोटियाँ!!

इस प्रकार हम गीत बनाते, उन्हें गाते और प्रसन्न रहते।

परन्तु इन कष्टों के होते हुए भी हम दोनों समय हवन करते थे; तसलों को हवन-कुण्ड बना लेते थे, 'चम्बू' को चम्मच; सत्संग करते थे। 'ओ३म्' का झण्डा लहराकर उसको प्रणाम करते थे। एक दिन इसी प्रकार हवन कर रहे थे कि जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट शैख़ आबिद-अल-वहाब वहाँ पहुँच गए। उन्होंने 'नमस्ते जी' कहा। हमने कहा, 'आइये, पधारिये!' हवन की सुगन्ध उनके पास पहुँची तो बोले, 'यह बहुत अच्छी वस्तु है।' हमने कहा, 'आपने हवन की सुगन्ध ले ली; आप आर्यसमाजी हो गए।' वह बोले, 'आर्यसमाजी भले ही न हुआ होऊँ, परन्तु यह सुगन्ध तो अच्छी है। इसका विरोध कौन कर सकता है?'

ऐसे सत्संग हम प्रतिदिन करते थे।

अपने तसले और चम्बू भी चमकाते। अपने कंबल सँभालकर रखते। अपने टिकट को सजाकर रखते और ख़ूब प्रसन्न रहते थे।

मेरा सौभाग्य था कि मेरा और नारायण जी का कमरा एक था, एक ही कमरे में हम दोनों रहते थे। उनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा। वह उन दिनों 'बृहदारण्यक उपनिषद्' का भाष्य लिख रहे थे। वह लिखाते जाते; मैं लिखता जाता। बहुत-कुछ पाया उनसे।

एक दिन ऐसे ही वह लिखा रहे थे, मैं लिख रहा था, तो जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट शैख़ आबिद-अल-वहाब और गुलबर्गा के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर रिज़वी हमारे पास आ गए।

मैंने कहा, 'आइये, महोदय! आप कैसे आ गए इस समय?'

रिज़वी महोदय बोले, 'यह कहने आए हैं कि अब उठो, चलो यहाँ से!'

मैंने कहा, 'क्यों? क्या किसी दूसरी जेल में भेज रहे हैं आप?'

वह बोले, 'किसी जेल में नहीं। आप बाहर चलो!'

मैंने कहा, 'क्या कोई भूचाल आनेवाला है कि आप हमें जेल से बाहर ले-जा रहे हैं?'

वह बोले, 'नहीं, निज़ाम ने आर्यसमाज की सभी माँगें मान ली हैं; सब सत्याग्रहियों को मुक्त करने का आदेश दे दिया है। अब हवन करो, मन्दिर बनाओ, ओ३म् के झण्डे फहराओ, लैक्चर दो, जो इच्छा हो सो करो। अब उठो ! चलो, जेल को खाली करो !'

हम इकट्ठे बाहर चल दिये। परन्तु क्या उस समय हम रोकर कहते कि हाय हमारा तसला ! हाय हमारा चम्बू ! हमने इतना रगड़-रगड़कर चमकाया था उसे ! हमारा फटा हुआ कम्बल, इतना सँभाल-सँभालकर रक्खा था उसको ! उस टाट को सँभाल-सँभालकर रक्खा था ! उस कमरे को झाड़-बुहारकर रक्खा था ! क्या यह कहकर हम रोते ?

नहीं; सब-कुछ छोड़कर चलते हुए जेल से बाहर आ निकले।

जब तक भोगना था, तब तक हँस-हँसकर प्रत्येक वस्तु काम में लाए। जब समय आया तो सबको हँसते-हँसते छोड़ दिया। यह है **'त्यक्तेन भुंजीथाः'**—'त्यागपूर्वक भोग करना'। भगवान् ने जो कुछ दिया है उसको भोगो अवश्य, परन्तु त्यागपूर्वक भोगो ! तुम्हारे जो नवयुवक पुत्र हैं, उनसे प्यार करो अवश्य, परन्तु यदि तुम्हारा देश पुकारे, यदि देश-माता पर शत्रु आक्रमण करे और वह पुकारे तो उन्हीं प्यारे नवयुवक पुत्रों को मातृभूमि पर बलि होने के लिए देश को सौंप दो ! तुम्हारे पास धन है तो धन दे दो ! कोठी है तो कोठी दे दो ! बँगला है तो बँगला दे दो ! सम्पत्ति है, सोना है, आभूषण हैं, तो यह सब दे दो जिससे देश की रक्षा हो और देश के शत्रु को नष्ट कर दिया जाय। इतना ही नहीं; आगे बढ़कर कहो, 'मैं अपने शरीर का प्रत्येक अंग देता हूँ। रक्त की एक-एक बूंद देता हूँ। जो कुछ भी मेरा है, वह देश के लिए है; मेरा होने पर भी यह मेरा नहीं है।'

यह है जीवन को सफल बनाने का ढंग ! यह जो **त्यक्त** अथवा 'त्याग' शब्द है, इसके अर्थ बहुत विशाल हैं। इसके अर्थ हैं—छोड़ देना, बाँट देना। हमारे शास्त्रों में वैतरणी नदी की चर्चा की गई है; यह भी उल्लेख मिलता है कि मरने के पश्चात् उसको पार करना पड़ता है। जो उसको पार नहीं कर पाता, वह डूबकर घोर नरक में पहुँच जाता

है। यह 'वैतरणी' नदी क्या है ? 'वितरण' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है 'बाँटना', देना, दान देना। यह वैतरणी नदी वास्तव में त्याग की, दान की नदी है। जो दूसरे ज़रूरतमन्दों को देता है, जो त्यागपूर्वक भोगता है, वह इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् सुख तथा आनन्द से भरपूर स्वर्ग को प्राप्त करता है। जो केवल अपने लिए जीता है, उसके लिए घोर नरक ही है—

देह धरे का फल यही, दे दो जो कछु दे।
देह खेह हो जायगी, फिर कौन कहेगा दे॥

यह है 'वैतरणी' नदी। देना, त्याग करना, बाँटकर खाना, यह त्याग ही हमारी संस्कृति का आधार है। आजकल कुछ लोग संस्कृति का बहुत अभिमान करते हैं। ऐसा लगता है कि संस्कृति के 'सोल एजेण्ट' वही हों तथा दूसरे लोग तो सब-के-सब संस्कृति के विरोधी हों! इस संस्कृति को वे भारतीय संस्कृति भी कहते हैं; हिन्दू संस्कृति भी। वास्तव में हमारी संस्कृति आर्य-संस्कृति है; वैदिक संस्कृति! कई बार मैं आश्चर्य से सोचता हूँ कि ये लोग जो आज संस्कृति के ठेकेदार बने बैठे हैं, क्या यह भी जानते हैं कि भारतीय संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, आर्य संस्कृति अथवा वैदिक संस्कृति है क्या ?

यदि ये सुन सकें तो मैं कहता हूँ कि पहले अपने शास्त्रों को देखो, अपने इतिहास को देखो! जिस धर्म का तुम दम भरते हो और जिसको तुम अपनाते नहीं हो, उसी को देखो, फिर तुम्हें पता लगेगा कि जिस संस्कृति की तुम दुहाई देते फिरते हो, वह है क्या ? यह बिल्कुल सच है कि हमारे शास्त्र धन की निन्दा नहीं करते। वे आदेश देते हैं कि धन कमाओ! इसको भोगो! वेद कहता है—**'भुंजीथाः!'**—'भोग करो।' परन्तु कैसे भोगो ? **'त्यक्तेन'**—'त्यागपूर्वक भोगो!'

क्यों जी, भगवान् राम के समय से लेकर आज तक और इस समय से पहले भी इस देश में कितने लखपति, करोड़पति, कितने अरबपति हो गए होंगे ? लाखों वर्षों का इतिहास है। इन लाखों वर्षों में पाँच-छः लाख करोड़पति तो इस देश के करोड़ों निवासियों में से हो ही गए होंगे। इनमें से कितने लोगों का नाम आज हमें स्मरण है ? वे लोग

आए, धन के कीड़े बन गए, कुछ समय तक यहाँ रहे, फिर चले गए। आज किसी को भी ज्ञात नहीं कि वे कहाँ रहते थे, क्या करते थे। उन्हीं के समान कई राजा और महाराजा भी तो हुए! धन और शक्ति के अभिमान में भरे अत्याचार करते चले गए। उनका नाम भी आज किसी को ज्ञात नहीं। वह नूरजहाँ थी न, बादशाह जहाँगीर की रानी, वही जहाँगीर जो हिन्दुस्तान पर राज्य करता था; वह जहाँगीर पर भी राज्य करती थी। लाहौर में रावी नदी के किनारे उसकी क़ब्र बनी हुई है। उसपर उसकी इच्छा से फ़ारसी का एक शे'र (पद्य) लिखा है—

बर-मज़ारे मा ग़रीबाँ ने चिरागे ने गुले।
ने परे परवाना सोज़त, ने सदाए बुलबुले॥

यह सम्भवतः नूरजहाँ की वसीयत थी कि 'देखो भाई, मुझ ग़रीब की क़ब्र पर न कोई दीया जलाना, न कभी कोई फूल चढ़ाना, जिससे दीये की लौ में किसी परवाने के पर न जल जायँ, फूल को देखकर कोई बुलबुल न रो उठे।'

नूरजहाँ ने अपनी इच्छा से यह बात अपनी क़ब्र पर लिखवा दी। परन्तु यदि वह न भी लिखवाती तो भी राजाओं, महाराजाओं, सुल्तानों, नवाबों, रानियों और महारानियों की क़ब्रों या समाधियों पर फूल कौन चढ़ाता है? दीया कौन जलाता है? फिर जो लाखों राजा, महाराजा, सम्राट्, सुल्तान, नवाब और बादशाह हुए, उनके स्मृति-चिह्न हैं कहाँ? वे स्वयं मिट गए, उनके चिह्न तक मिट गए, उनके कोष मिट गए, महल और सम्पत्तियाँ मिट गईं। कुछ लोगों के नाम इतिहास के पृष्ठों पर हैं; अधिकांश लोगों के वहाँ भी नहीं—

'कबिरा' गरब न कीजिये, ऊँचा देख आवास।
काल पड़े भुइँ लेटना, ऊपर जमसी घास॥

और यदि ऊँचा मकान बना लिया है, महल बना लिया है, दुर्ग बना लिया है तो अभिमान मत करो! अन्त में मृत्यु आयेगी अवश्य। कोई तुम्हें जला देगा या दबा देगा। तुम्हारी राख पर घास उग आयेगी। किसी को पता भी नहीं लगेगा कि तुम कहाँ पड़े हुए हो।

यह माया का रूखड़ा, दो फल का दातार।
खावत-खर्चे मुक्ति दे, संचित नरक का द्वार॥

'यह धन, यह वैभव उस वृक्ष के समान है जो दो प्रकार का फल देता है। इसको खाम्रो, व्यय करो, दान दो, इससे दूसरों का भला करो तो यह मुक्ति भी दे सकता है। श्रौर यदि इसका संचय करते जाओ, निन्यानवे के फेर में ही पड़े रहो तो फिर यह नरक के द्वार को भी खोल सकता है।'

फिर क्यों संचय करते हो इसका ? क्यों इसका लालच करते हो ? श्ररे सुनो !

यह माया तो जायगी, सुनो शब्द यह मोर।
सजनों के घर साधुजन, सूमों के घर चोर॥

श्ररे भाई ! यह तो जाएगी ही। किसी के साथ यह कभी गई नहीं; तुम्हारे साथ जाएगी नहीं। यदि इसको दान करोगे, दूसरों के तथा श्रपने भले के लिए खर्च करोगे, देश और समाज की उन्नति में खर्च करोगे, वेद-प्रचार के लिए खर्च करोगे, तो भी यह जाएगी। ऐसा नहीं करोगे तो भी यह जाएगी। श्रन्तर केवल यह होगा कि दान, पुण्य, लोक-कल्याण, देश-सेवा तथा समाज-सेवा के लिए खर्च करोगे तो साधुजन ले जायेंगे ताकि तुम्हारे धन से समाज को उन्नत कर सकें; ग़रीबों श्रौर दुःखियों का कष्ट दूर कर सकें। श्रौर यदि ऐसा न करोगे, सूम बनकर बैठे रहोगे तो तुम्हारे इस संचित धन को किसी दिन या तो चोर ले जायेंगे, या फिर वे लोग ले जायेंगे जिनकी दशा के सम्बन्ध में किसी ने पंजाबी में कहा था—

जोड़-जोड़ मर जायेंगे, माल जँवाई खायेंगे।

परन्तु मैं श्रापसे इस देश के धनपतियों, सेठों, साहूकारों, ज़मींदारों, राजाश्रों, महाराजाश्रों, सुल्तानों, नवाबों, सम्राटों की बात कर रहा था। क्या श्रापने इस विशाल देश में कहीं भी किसी राजा, महाराजा, सुल्तान या नवाब की मूर्ति की पूजा होती देखी है ? क्यों उनका सम्मान नहीं होता ? क्यों उनके मरते ही लोग उन्हें भूल गए ? इसीलिए कि वे श्रपने लिए जिये थे।

परन्तु उनकी तुलना में भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, गौरांग महाप्रभु, श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री गुरु नानकदेव जी, श्री तुलसीदास, श्री कबीर, महर्षि व्यास, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी और दूसरे महापुरुषों का नाम सुनते ही आज भी हम श्रद्धा से सिर झुका लेते हैं। इनमें भगवान् राम और कृष्ण के अतिरिक्त सब-के-सब भिक्षुक थे; इनके पास अरबों-खरबों तो क्या, सैकड़ों रुपया भी न था। नंगे शरीर जंगलों में झोंपड़ियाँ बनाकर, लंगोटी या धोती पहननेवाले लोग थे। महर्षि दयानन्द बरसों तक एक लंगोटी और लाठी लेकर घूमते रहे। उनकी सारी सम्पत्ति उनकी कुछ पुस्तकें थीं। भगवान् बुद्ध ने राज्य का त्याग कर दिया था। भगवान् महावीर ने राज्य का त्याग कर दिया था। संत तुलसीदास इतने निर्धन थे कि एक बार एक ग़रीब ब्राह्मण इनके पास आया; बोला, 'तुलसीदास जी, मेरी पुत्री का विवाह होनेवाला है; मेरे पास पैसा है नहीं; आप कुछ कृपा कीजिये! एक-दो हज़ार रुपए मिल जायँ तो मैं अपनी पुत्री का विवाह कर दूं।'

अब तुलसीदास जी के पास एक-दो हज़ार रुपया कहाँ से होता? उन्होंने अपने मित्र और अकबर के मंत्री ख़ानख़ाना अब्दुर्रहीम के नाम एक पत्र लिखा—'यह एक ग़रीब ब्राह्मण है; सम्भव हो तो इसकी सहायता कर दीजिये जिससे यह अपनी पुत्री का विवाह कर सके।' और इस प्रयोजन से कि ख़ानख़ाना रहीम इस बात का महत्त्व समझ सकें, उन्होंने एक दोहे का आधा भाग अपने पत्र में लिख दिया—

सुर-तिय, नर-तिय, नाग-तिय, सब चाहत अस होय।

अर्थात् 'देवताओं की, मनुष्यों की, नागों की, सबकी स्त्रियाँ चाहती हैं कि ऐसा हो जाय—' उनका अभिप्राय यह था कि नवयुवती किसी भी प्रकार की हो, वह यही चाहती है कि उसका विवाह हो जाए। ख़ानख़ाना स्वयं भी कवि थे। जिस भाषा को आज उर्दू अथवा हिन्दी कहा जाता है उसके जन्मदाता और सर्वप्रथम कवि वही थे। उन्होंने ब्राह्मण को उसकी इच्छानुसार धन भी दिया और तुलसीदास के दोहे को पूरा करके यह भी कहा कि इसको तुलसीदास जी के पास ले

जाओ। तुलसीदास जी ने लिखा था—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।

खानखाना रहीम ने इसका दूसरा चरण इस प्रकार लिखा है—

गोद लिये हुलसी फिरें, तुलसी सा सुत होय॥

अर्थात् देवताओं की, मनुष्यों की, नागों की नवयुवती कन्याएँ केवल यही नहीं चाहतीं कि उनका विवाह हो जाए, अपितु वे यह भी चाहती हैं कि उनके यहाँ तुलसीदास-जैसा पुत्र उत्पन्न हो जाय जिसको लेकर वे 'हुलसी फिरें—प्रसन्न होती रहें।'

यह तो तुलसीदास जी और कवि रहीम के आपसी प्यार की बात थी। परन्तु मैं जो आपसे कह रहा था, उसपर विचार कीजिये। इस देश में प्रतिष्ठा सदा उन लोगों की हुई है जिन्होंने त्याग किया; उनकी नहीं जिन्होंने लालच किया और अपने धन का उपयोग केवल अपने लिए किया। इस देश ने सदा त्याग की प्रतिष्ठा की है; लालच की, लोभ की, स्वार्थ-भावना की और धन की नहीं। सोचकर देखिये कि भगवान् राम यदि महाराजा दशरथ के आदेश को मानकर, राज का त्याग न करके उनके विरुद्ध विद्रोह कर देते और उनका वध करके या उनको बन्दी बनाकर राज्य करना आरम्भ कर देते, तो क्या इस देश में उनकी वह प्रतिष्ठा होती जो आज होती है? सोचकर देखिये कि यदि भगवान् राम के भाई राजकुमार भरत अयोध्या के राज्य पर अधिकार करके बैठ जाते और कहते कि यह राज्य मेरा है, किसी दूसरे का इसपर अधिकार नहीं, और यदि वह अयोध्या के राज्य को अपना बनाए रखने के लिए भगवान् राम से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते, तो क्या उनकी वह प्रतिष्ठा होती जो आज है? सोचकर देखिये कि राजकुमार लक्ष्मण भगवान् राम के साथ जंगलों में न जाकर अयोध्या में भरत के प्रधानमंत्री बनकर शासन करना आरम्भ कर देते, तो उनकी वह प्रतिष्ठा होती जो आज है? और फिर सोचकर देखिये कि भगवान् राम लंका की विजय कर लेने पर उसको वैसा हो अपना देश बनाकर बैठ जाते जैसे यूरोप के आक्रान्ताओं ने अमेरिका के आदिवासियों को हराकर बनाया, अमेरिका को बनाया या आॅस्ट्रेलिया,

न्यूजरसी, दक्षिण अफ्रीका के आदिवासियों को पीछे धकेलकर अपना देश बनाया, तो क्या हम उनकी उसी प्रकार प्रतिष्ठा करते जैसे आज करते हैं ? हम भगवान् राम की प्रतिष्ठा करते हैं और उनसे प्यार करते हैं तो इस हेतु कि उन्होंने ऐसा नहीं किया; त्याग की उस भावना से काम लिया जो इस देश की संस्कृति का आधार है।

सोचकर देखिये कि भगवान् कृष्ण की हम प्रशंसा करते और दुर्योधन की निन्दा करते हैं तो किस हेतु ? भगवान् कृष्ण शांति-स्थापनार्थ राजदूत बनकर दुर्योधन के पास पहुँचे; बोले, 'मैं पाण्डवों की ओर से यह कहने आया हूँ कि केवल पाँच गाँव उन्हें दे दीजिये। उन पाँच गाँवों में वे राज्य करेंगे। इसके पश्चात् कोई युद्ध नहीं होगा।' परन्तु अभिमानी दुर्योधन ने ये पाँच गाँव देना भी स्वीकार नहीं किया; गर्जते हुए कहा—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !'

'हे कृष्ण ! मैं युद्ध किये बिना इतनी-सी भूमि भी नहीं दूँगा जिससे सुई की एक नोक भी ढक सके।' इस लालच का जो परिणाम हुआ वह तो हम जानते ही हैं। पाँच गाँवों के बदले सारा देश दुर्योधन को देना पड़ा और उसका नाम व चिह्न तक मिट गया।

यह है भारतीय और हिन्दू संस्कृति, जिसे अपने-आपको हिन्दू संस्कृति के ठेकेदार कहनेवाले भूल जाते हैं। उन्हें यह बात स्मरण नहीं रही कि इस देश की संस्कृति और वेद भगवान् की संस्कृति त्याग की भावना के आधार पर खड़ी है। जब-जब इस आधार को भुलाया जाता है, तब-तब आपदाएँ आ खड़ी होती हैं।

जब भारत का विभाजन हो गया और पाकिस्तान बन गया तो उस समय एक सज्जन मेरे पास आए। उस समय मैं आनन्द स्वामी नहीं, खुशहालचन्द था। 'मिलाप' का स्वामी भी था। वे सज्जन मेरे पास आकर बोले, 'मैं पाकिस्तान में स्थित अपने गाँव के अपने मकान के भीतर ढाई मन सोना छोड़ आया हूँ। उसको वहाँ से निकालूँ किस विधि से ?' अब तो मैं हूँ एक भिक्षुक-सा व्यक्ति; गृहस्थ था तब भी मैंने ढाई मन सोना देखा नहीं था। अपनी तो यह दशा थी कि—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिसको कछु न चाहिए, वह शाहनपति शाह।।

मैंने ढाई मन सोने की बात सुनी तो दुःख के साथ कहा, 'अरे मूर्ख ! तू उस सोने को अपने मकान के भीतर दबाकर क्यों छोड़ आया ? यदि वह सोना दान कर देता, दूसरों की भलाई के लिए दे देता तो तेरे मन को भी शांति होती; तेरे आत्मा का भी भला होता। उस ढाई मन सोने को सुरक्षित रखने की तूने जीवन-भर चिन्ता की। न कभी चैन से सोए, न चैन से जागे। एक अनुचित चिन्ता तू मन को लगाकर बैठा रहा ! और यह चिन्ता—

चिन्ता ऐसी डाकिनी, काट कलेजा खाय।
वैद्य बिचारा क्या करे, कहँ तक दवा लगाय ?

यह चिन्ता ऐसी डायन है कि आदमी के भीतर घुसकर उसका कलेजा खाती रहती है। उसको चैन नहीं मिलता। वैद्य, हकीम, डॉक्टर, सब हार जाते हैं। इस रोग का उपचार उनके पास है नहीं। मैंने उस आदमी से कहा, 'तू इस चिन्ता-डायन को व्यर्थ ही अपने गले का हार बनाकर बैठा रहा ! यदि तू उस धन को दूसरों की भलाई में व्यय कर देता तो आज तुझे कम-से-कम इतनी शांति तो होती कि तूने वह धन किसी अच्छे काम में व्यय कर दिया ! इस दशा में भी वह जाता, उस दशा में भी वह गया। परन्तु इस दशा में तू हँसता; अब रोता है। तू 'त्यागपूर्वक भोग' के मार्ग पर नहीं चला, इसीलिए आज तक रो रहा है।'

और सच ही, मेरे प्रयत्न से जब उस आदमी को पाकिस्तान जाने और अपना घर देखने की अनुमति मिली तो उसने जाकर देखा कि उससे पहले ही कोई सोना निकालकर ले-जा चुका था।

अब बताइये कि ऐसे धन का लाभ क्या है जो न तुम्हारे काम आए और न दूसरे ज़रूरतमन्दों के ? या, वह धन किस काम, जिसको चोर चुराकर ले-जायँ ? धन का यह उपयोग कि उसको भूमि में गाड़-कर रख दो या बैंक में फ़िक्स्ड डिपॉज़िट बनाकर रख दो, सर्वथा ग़लत उपयोग है। धन का उचित तथा ठीक उपयोग केवल एक ही है:

कि त्यागपूर्वक उसका भोग करो; स्वयं भी खाओ, दूसरों को भी खिलाओ; अपना भला करो, दूसरों का भी।

इसी हेतु हमारे देश की संस्कृति की नींव 'त्याग' पर रक्खी गई है। कितने ही बड़े-बड़े त्यागी और तपस्वी इस देश में हो गए; परन्तु फिर संसार बदलने लगा। त्यागी तथा तपस्वी जनों की संख्या घटने लगी; धन के पुजारियों की संख्या बढ़ने लगी। त्यागी और तपस्वियों में भी दुकानदार-ढंग के लोग जाग उठे। कहने को तो वे त्यागी और साधु हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसे दुकानदार हैं जो धन तथा सम्पत्ति के मोह में गृहस्थों से भी अधिक फँसे हुए हैं। संन्यास लेने के पश्चात् मुझे उन संन्यासियों, साधुओं और महन्तों को अत्यन्त समीप से देखने का अवसर मिला। अद्भुत-अद्भुत प्रकार के तमाशे देखे हैं मैंने। मैंने इन त्यागियों और वैरागियों को धन के लिए आपस में लड़ते देखा है। मैंने इनके वे मठ और आश्रम देखे हैं जिनका मूल्य लाखों क्या, करोड़ों में है। एक साधु बाबा की एक 'कुटिया' देखी, जिसको देखकर सिर चक्कर खाता है। 'कुटिया' कहते हैं झोंपड़ी को, जिसकी पतली, कच्ची या केवल बाँस की बनी दीवारें हों; उसपर फूस की, सरकंडों की या किसी ऐसी दूसरी वस्तु की छत हो; छोटा-सा स्थान हो, जहाँ आदमी बैठकर सुख-चैन से भगवान् का भजन कर सके। परन्तु जिस 'कुटिया' की बात मैं कह रहा हूँ, उसमें छः सौ कमरे हैं। सुना है कि एक दूसरी 'कुटिया' में एक हज़ार से ऊपर कमरे हैं। यह भी पता लगा कि हरिद्वार में एक 'साधु-आश्रम' बन रहा है जिसमें कई मंज़िलें हैं। प्रत्येक कमरा एअर-कंडीशण्ड है; प्रत्येक के साथ स्नानगृह और बरामदा। अब बताइये, यह कहाँ का तप और त्याग है ? दूसरों को उपदेश देते हैं, माया का मोह छोड़ दो, और स्वयं माया-मोह को ही जीवन का उद्देश्य बना बैठे हैं !

मैं हृषिकेश में था। वहाँ एक दिन देखा कि कुछ लोग बहुत ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर लड़ रहे हैं। मैंने पूछा, 'क्या हुआ इन लोगों को ?' तो पता लगा कि 'मौनी बाबा' झगड़ा कर रहे हैं। यह भी भला क्या मौन हुआ कि लड़ भी लो, झगड़ भी लो और अपने-आपको 'मौनी' भी

कहते रहो ? एक दिन एक स्थान पर देखा कि एक साधु की कुटिया के समीप बहुत भीड़ इकट्ठी है; खूब सजावट हो रही है। पूछने पर पता लगा कि यहाँ पर ब्रह्मचारी जी की कन्या का विवाह हो रहा है ! ये अच्छे ब्रह्मचारी हैं कि अपनी पुत्री का विवाह भी करते हैं और फिर भी अपने-आपको ब्रह्मचारी कहते हैं !

यह तप और त्याग तो है नहीं। यह तो निरा ढोंग है ! निरी दुकानदारी ! ऐसे लोगों से तो वे कहीं अधिक अच्छे हैं जो कम-से-कम ढोंग तो नहीं करते ! दूसरों को धोखा तो नहीं देते !

प्राचीन काल में एक यज्ञ होता था, उसका नाम था 'सर्वजित्'-यज्ञ। उस यज्ञ में यजमान अपना सर्वस्व—सब-कुछ दान दे देता था; शरीर ढाँपने के लिए केवल एक कपड़ा उसके पास रह जाता था; शेष सब समाप्त। ऐसा यज्ञ महाराज रघु ने किया जो भगवान् राम के पूर्व-पुरुष थे और उन्हीं के नाम पर परिवार का नाम 'रघुकुल' था।

महाराज रघु यह यज्ञ करने के पश्चात् शान्तचित्त बैठे तो एक नवयुवक ब्रह्मचारी इनके पास आया; बोला, 'महाराज ! मुझे चौदह भार सोना चाहिये। मेरे गुरु ने इतनी दक्षिणा मुझसे माँगी है। मेरे पास कुछ है नहीं और मुझे यह दक्षिणा देनी है।'

रघु बोले, 'बहुत देर से आए हो, नवयुवक ! मैं तो अपना सब-कुछ दे चुका—घर-बार, महल-मकान, राज-पाट, धन-कोष। अब इस धोती के अतिरिक्त मेरे पास कुछ रहा नहीं, जो मैं पहने बैठा हूँ। अब चौदह भार सोना कहाँ से दूँ ?'

एक भार सोना इतने सोने को कहते हैं जितना कि एक स्वस्थ नवयुवक और बलिष्ठ पुरुष एक बार में अपने कंधे पर उठा सके।

ब्रह्मचारी ने कहा, 'यह सब-कुछ मैं नहीं जानता। मैं तुम्हारे पास आया हूँ, कहीं से भी चौदह भार सोना जुटाकर दो !'

रघु सोचते हुए बोले, 'अच्छा, तुम मेरा पत्र महाराज कुबेर के पास ले जाओ। वह तुम्हें चौदह भार सोना दे देंगे।'

ब्रह्मचारी, रघु का पत्र लेकर कुबेर के पास पहुँचा तो कुबेर ने कहा, 'इस प्रकार तो मैं सोना दे नहीं सकता। रघु से जाकर कहो कि वे

मुझपर आक्रमण करें, मुझसे युद्ध करें। यदि वे जीत जायँ तो जो चाहे कितना ले जायँ।'

ब्रह्मचारी ने आकर यह बात महाराज रघु को सुनाई। रघु बोले, 'यदि कुबेर यही चाहते हैं तो मैं उनपर आक्रमण करूँगा!'

अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर चल पड़े वे कुबेर जी के राज्य की ओर! कुबेर जी वस्तुतः लड़ना नहीं चाहते थे। वह तो महाराज रघु को अपने घर बुलाना चाहते थे। कहीं भी किसी ने भी रघु को रोका नहीं। वह कुबेर की राजधानी में पहुँचे; उनके महल में। उनके सामने आए तो कुबेर ने हँसते हुए कहा, 'आओ मेरे मित्र! तुम्हारे आने से मेरा घर पवित्र हो गया। वह पड़ा है सोना, उठाकर ले जाओ सब। मेरे आदमी इसको तुम्हारे साथ ले जायँगे।' और वह चौदह भार नहीं, हज़ारों भार सोना था।

रघु महाराज उस सोने को लेकर यज्ञ-स्थान पर पहुँचे तो ब्रह्मचारी से बोले, 'नवयुवक! तुम्हारा सोना आ गया; अब ले जाओ इसको।'

ब्रह्मचारी ने कहा, 'मुझे केवल चौदह भार सोने की आवश्यकता है; इससे एक रत्ती भी अधिक मुझे चाहिये नहीं।'

महाराज रघु ने चौदह भार सोना ब्रह्मचारी को देकर शेष सोना कुबेर को लौटा दिया; कहा, 'यह आपका सोना है, आप इसको अपने पास रखिये।'

कुबेर ने सारा सोना यह कहकर लौटा दिया, 'यह सोना तुम्हारा है। तुमने जीता, मैंने दे दिया। इसे वापस नहीं ले सकता।'

रघु के पास यह सोना पहुँचा तो उन्होंने एक और 'सर्वजित्'-यज्ञ के अनुष्ठान की तैयारी आरम्भ कर दी। सारा सोना उस यज्ञ में दान दे दिया।

यह है हमारे देश की संस्कृति! इस संस्कृति ने सदा त्यागियों की प्रतिष्ठा की है और त्याग को ही सुख और शांति का कारण बताया है।

अब देखिये, मुझे हो कब्ज, पेट से कुछ निकले नहीं और मैं खाता ही जाऊँ, खाता ही जाऊँ, तो इसके अतिरिक्त क्या होगा कि मैं रोगी

हो जाऊँगा, तड़पूँगा, छटपटाऊँगा, चीख़-चीख़कर आकाश को सिर पर उठा लूँगा।

एक थे गुरु जी, और एक था उनका चेला। यह चेला कुछ-कुछ 'मॉडर्न' विचार का था। एक दिन वह बोला, 'गुरु जी! आप यह हर घड़ी जो कहते हैं—त्याग में सुख है, त्याग में सुख है, यह सब क्या है? त्याग में सुख कैसे हो सकता है? सुख तो धन में है।'

गुरु जी ने कहा, 'नहीं, बेटा! धन का संचय करने में सुख नहीं, उसका त्याग करने में ही सुख है।'

चेले ने यह बात मानी नहीं।

एक दिन गुरु जी ने कहा, 'चलो भाई, इस नगर में बहुत दिन रह चुके; अब किसी दूसरे नगर में चलेंगे।'

गुरु जी के पास जो कुछ था, उन्होंने वह वहीं छोड़ दिया। चेले को यह सब छोड़ना अच्छा नहीं लगा। उसने दो चवन्नियाँ उठाकर अपने कोपीन में छुपा ली। चल पड़े दोनों। सायं-समय से कुछ पहले एक नदी के किनारे पहुँचे। उसपर कोई पुल नहीं था। एक नाव थी वहाँ। उसका मल्लाह भी था। गुरु जी ने मल्लाह से पूछा, 'क्यों भाई! हमें नदी के उस पार ले चलोगे?'

तब मल्लाह बोला, 'ले तो अवश्य चलूँगा, परन्तु चार-चार आने लगेंगे। एक आदमी के चार आने।'

अब गुरु जी के पास आठ आने थे नहीं; चेला भी चुप रहा। बैठ गए दोनों नदी के समीप। पीछे घना जंगल, आगे गहरी चौड़ी नदी। कहीं जाने की बात ही नहीं थी। अँधेरा घिरने लगा तो मल्लाह बोला, 'लो बाबा, मैं तो अब जाता हूँ। थोड़ी ही देर में यहाँ शेर पानी पीने आएगा; पानी पीने से पहले तुम दोनों को खाकर अपनी भूख भी मिटाएगा।'

अब तो चेला जी घबराए; बोले, 'अरे ठहरो! मैं देता हूँ आठ आने। हमें पार ले चलो।' और उसने कोपीन से निकालकर दोनों चवन्नियाँ मल्लाह को दे दीं।

गुरु और चेला दोनों नाव पर बैठकर पार आ गए। इस पार आकर

चेले ने कहा, 'क्यों गुरु जी ! आप तो कहते थे कि धन को त्यागने में सुख है; यदि वे चवन्नियाँ न होतीं तो हमें आज शेर खा जाता !'

गुरु जी हँसते हुए बोले, 'नहीं बेटे ! जब तक तू इन दो चवन्नियों का मोह करके इन्हें अपने पास रक्खे बैठा रहा, तभी तक शेर का डर था। जैसे ही तूने इनका त्याग किया, इनका मोह छोड़ा, वैसे ही शेर का डर दूर हो गया और हम नदी के इस पार आ गए; सुख मिल गया। त्याग ही में सुख है।'

और सच है कि सुख त्याग में है, प्रतिष्ठा भी त्याग से होती है।

एक मुहल्ले में एक पंडित जी कथा करते थे। रोज़ सायं-समय कितने ही स्त्री-पुरुष वहाँ इकट्ठे होते। प्रत्येक व्यक्ति पंडित जी को थोड़ा-बहुत दान देता। लोग कथा सुनते और लौट जाते। उसी मुहल्ले में एक महाकंजूस भी था। वह भी कथा सुनने के लिए आता परन्तु कभी एक पैसा भी पंडित जी को नहीं देता था। सबके अन्त में जूतों के समीप बैठ जाता था कि कोई उसे कुछ देने के लिए न कह दे। लोग उसकी ओर देखते तक नहीं थे।

इस बात से बहुत दुःखी होता था वह। एक दिन अपने घर में आकर अपनी पत्नी से बोला, 'मैं कथा सुनने जाता हूँ, परन्तु कोई मुझ-से बात नहीं करता; कोई मेरा आदर नहीं करता।'

पत्नी ने कहा, 'मैं ऐसा उपाय कर सकती हूँ कि सब लोग आपका आदर करें। कल कथा का भोग पड़नेवाला हैं। आप मुझे बहुत-से फूल ला दीजिये। मैं अपने हाथ से फूलों की माला तैयार कर लूँगी। एक बहुत सुन्दर और बहुत बड़ा रेशमी रूमाल भी ले आइये और चाँदी के एक सौ रुपए भी।'

सेठ ने यह सब लाकर दे दिया। पत्नी ने बहुत बड़ी और सुन्दर माला तैयार कर ली। चाँदी के चमकते हुए सौ रुपए रेशमी रूमाल में बाँधे और बोली, 'आज जब कथा का भोग पड़े तो आप यह माला पंडित जी के गले में डाल दीजिये, उसके पश्चात् ये रुपये और रूमाल उन्हें दे दीजिये। परन्तु कुछ ऊपर करके दीजिये, जिससे पंडित जी देख लें।'

सेठ पहुँचा कथा में। भोग पड़ा तो लोग चढ़ावा चढ़ाने लगे। किसी

ने एक रुपया दिया, किसी ने दो, किसी ने पाँच, किसी ने दस। सेठ भी जूतों के समीप से उठा; आगे बढ़ा।

लोगों ने आश्चर्य से सोचा, 'अरे! यह कंजूस मक्खीचूस क्या करेगा वहाँ जाकर? यह तो किसी को फूटी कौड़ी भी नहीं देता।'

परन्तु सेठ ने पंडित जी को फूलों की माला पहनाई; रेशमी रूमाल में रक्खे रुपयों को थोड़ा हिलाकर, जिससे वे छनछना उठें, पंडित जी के सामने रख दिया। तब उसने पंडित जी को प्रणाम किया और लौटकर वहीं जूतों के समीप जाने लगा जहाँ वह सदा बैठता था। परन्तु पंडित जी ने कहा, 'नहीं-नहीं सेठ जी! वहाँ नहीं, इधर आइये! मेरे समीप बैठिये!'

सेठ जी ने खड़े होकर कहा, 'देख लिया पंडित, तेरे यहाँ भी धन का आदर है।'

पंडित जी ने कहा, 'नहीं सेठ जी! धन तो आपके पास पहले भी था। आज आपने धन का त्याग किया तो आपका आदर हुआ; आदर धन का नहीं, त्याग का है।'

यह है हमारी संस्कृति! त्याग की संस्कृति! धन का संचय करने, उसको जोड़ने और धन पर साँप बनकर बैठ जाने अथवा उसका व्यय केवल अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए करने की संस्कृति नहीं। हमारी संस्कृति का आधार त्याग है। इसी आधार पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये चार आश्रम स्थापित किये गए थे। ब्रह्मचारी बनकर ज्ञान और शक्ति का संचय करो! गृहस्थ होकर इस ज्ञान और शक्ति के द्वारा कमाओ भी तथा दान भी दो! अपने परिवार की उन्नति करो! वानप्रस्थ बनकर परिवार के घेरे से बाहर निकलो और समाज की सेवा करो, देश की सेवा करो! संन्यासी बनकर देश और समाज के घेरे से भी बाहर निकलो और अपना सब-कुछ मानवता के कल्याण के लिए व्यय कर दो!

जबतक ऐसा होता रहा, तबतक शांति रही, सुख रहा, चैन रहा। जब से धन के त्याग के स्थान पर धन की पूजा करने की प्रथा आरम्भ हुई, तब से प्रत्येक ओर अन्याय, अत्याचार, झूठ और पाप बढ़ने लगे।

बस, किसी भी ढंग से धन कमाओ; किसी भी ढंग से धन का संचय करो; किसी भी ढंग से अपने धन की वृद्धि करते जाओ—यही सिद्धान्त बन गया। ऐसे लोगों का धन जब छिनता है तो वे चीखते हैं, चिल्लाते हैं, हाहाकार मचाना आरम्भ कर देते हैं।

अब देखिये न, यहाँ बैंकों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया गया। उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तो उन बैंकों के स्वामी और कर्त्ता-धर्ता कैसे चिल्ला उठे ! उनके साथ-साथ श्री मुरार जी देसाई, श्री पाटिल, काटिल, माटल आदि भी चिल्ला उठे। वे लोग भी चिल्ला उठे जो अपने-आपको हिन्दू संस्कृति के ठेकेदार समझे बैठे हैं और जिन्हें यह भी ज्ञात नहीं है कि इस देश की संस्कृति है क्या ? ये स्वार्थी जन, ये केवल अपना भला चाहनेवाले, अमेरिका के एजेण्ट, भूल गए हैं इस बात को कि यह धन किसी का नहीं है, यह ईश्वर का है। इसका व्यय ईश्वर की प्रजा के लिए, इसके भले के लिए होना चाहिये। यह धन किसी सेठ-साहूकार या किसी पूँजीपति की तिजोरियाँ भरने के लिए नहीं है। स्मरण रक्खो, जबतक संसार में पूँजीवाद और पूँजी-पूजा की यह ग़लत प्रथा विद्यमान रहेगी तबतक संसार को चैन कभी नहीं मिलेगा ! कभी नहीं मिलेगा ! कभी नहीं मिलेगा !

परन्तु लो जी, साढ़े नौ बज गए। अच्छा, अब शेष बात कल सही।

ओ३म् शम् !

□

पाँचवाँ दिन

[पूज्य स्वामी जी महाराज ने आज कथा आरम्भ करने से पूर्व सुदीर्घ स्वर में 'ओ···३···म्' का उच्चारण करके संगीत की ध्वनि में यह वेद-मन्त्र सुनाया—

यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥

और बोले—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

वेद का जो मन्त्र मैंने अभी आपके सामने पढ़ा, 'यजुर्वेद' के ३६वें अध्याय का २२वाँ मन्त्र है। इसके पहले वाक्य में कहा है कि—

'यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु।'

'हे भगवान् ! जहाँ-जहाँ भी तू है, वहाँ, हमारे लिए कोई भय न हो, डर न हो।' परन्तु क्या कोई ऐसा भी स्थान है इस विशाल और अनन्त विश्व में, जहाँ वह प्यारा प्रभु नहीं है ?

इस प्रश्न का उत्तर 'यजुर्वेद' के इसी अध्याय के इससे पहले आए २१वें मन्त्र में दिया है; बहुत सुन्दर मन्त्र है यह—

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥

'हे भगवन् ! बिजली में चमकता प्रकाश तू है; बादल में गर्जती गूंज तू है; प्रत्येक स्थान पर तू स्वयं ही प्रत्येक कार्य का संचालन करता है; प्रत्येक स्थान पर तू ही तू है; तेरी शक्ति कण-कण में, क्षण-क्षण में, मन-मन के भीतर विद्यमान है; तुझे मेरा नमस्कार है। हे सर्वव्यापक ! सर्वान्तर्यामिन् ! सर्वशक्तिमन् ! तेरे सामने मैंने सिर झुका दिया।' कितनी मीठी कविता है !

श्रौर सुनो ! जो अपने प्रभु को प्यार करता है, वह जब देखता है तो सब ओर उसी एक को देखता है—पहाड़ों और नदियों में, जंगलों के झूमते वृक्षों में, समुद्रों की नाचती तरंगों ,में फूलों में, फलों में, प्रत्येक फूल में, घास की प्रत्येक पत्ती में, तारों-भरे आकाश में, सूर्य में, चाँद में, इन खरबों ब्रह्माण्डों में, इस असीम अनन्त विश्व में । यहाँ भी है वह । इस आकाण के ,भीतर दिखाई देनेवाले इस अन्तिम तारे में भी है, जिसके प्रकाश को एक लाख छियासी हज़ार मील प्रति सैकंड की चाल से चलते हुए पृथिवी पर पहुँचने में एक करोड़ वर्ष लग जाते हैं। इससे भी दूरस्थ उन खरबों ब्रह्माण्डों में भी वह विद्यमान है जिनको आजकल के वैज्ञानिकों की दूरबीन अभी देख नहीं पाई है । इसलिए 'यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु' का अभिप्राय यह नहीं है कि जहाँ भगवान् नहीं हैं, वहाँ हमारे लिए भय है, डर है; कारण कि ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ वह प्यारा प्रभु-प्रीतम विद्यमान न हो, जहाँ उसकी शक्ति न हो । इसलिए इसका ठीक अर्थ यह हुआ—'हे भगवन् ! सभी स्थानों पर तू ही तू है। सभी स्थानों पर तेरी शक्ति काम करती है । सभी स्थानों पर तू इस संसार को चलाता है । इसलिए, संसार में किसी भी स्थान पर हमारे लिए डर न हो; भय न हो ।' परन्तु मैंने यह मन्त्र आपको सुनाया तो किसलिए ?

इस मन्त्र के दूसरे भाग में प्रार्थना की गई है—'**शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ।**'—'हे भगवन् ! अपने लिए तो हमने माँगा कि हमारे लिए कहीं भय न हो, डर न हो; परन्तु शेष सारी ही प्रजा के लिए, सभी लोगों के लिए हम माँगते हैं कि इनका कल्याण हो; केवल मनुष्यों का ही नहीं, पशुओं का भी कल्याण हो । इनके लिए भी कोई भय न हो ।'

सुनो, सुनो, सुनो ! यह है वह संस्कृति जिसको भूल जाने के कारण मानव बेचैन हो गया; वह तंग आ गया । यह है वह संस्कृति जिसने सिखाया था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् !

अर्थात् 'सब लोग सुखी हों; सबको नीरोगिता मिले; सबका कल्याण हो; किसी को कोई कष्ट न हो।'

है इसमें कहीं इस बात का उल्लेख कि जिन लोगों ने धन कमाया है, या अपने बाप-दादा से प्राप्त किया है, केवल उन्हीं का कल्याण हो ? केवल वही सुखी रहें ? क्या इसमें कहीं यह कहा है कि निर्धन, मजदूर या किसान सुखी न हों, जो धन का संचय नहीं कर पाए ? नहीं, हमारी संस्कृति यह नहीं सिखाती; हमारा धर्म यह नहीं सिखाता; वेद यह नहीं सिखाता। इसीलिए कल मैंने कहा था—जब तक संसार में पूँजीवाद या पूँजी-पूजा, धन के लिए धन को जोड़कर रखने की प्रवृत्ति, धन के लिए धन को जोड़कर रखने की अभिलाषा विद्यमान रहेगी, तबतक संसार को कभी चैन नहीं मिलेगा। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'इक़बाल' हुए हैं न, उन्होंने भी इस बेचैनी को अभिव्यक्त करते हुए यही कहा था।

यह है वह बेचैनी जो पूँजीपतिपन से उत्पन्न होती है। मकान जलते हैं, लाशें तड़पती हैं, खून बहता है, मानव ही मानव का शत्रु बन जाता है। इस दशा को बदलने का उपाय मैं आपको बतला रहा हूँ। मैं उस संस्कृति की बात कह रहा हूँ जिसका आधार त्याग है; जो कहती है कि भोग करो अवश्य, परन्तु त्यागपूर्वक भोगो। कल मैं **'भुजीथाः'** की बात कर रहा था। यह शब्द संस्कृत की **'भुज्'** धातु से बना है। **'भुज्'** का अर्थ है भोगना, प्रयोग में लाना, उपयोग में लाना।

परन्तु किसी भी वस्तु को उपयोग में लाने से पहले दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम यह कि जिस वस्तु को आप भोगना या उपयोग में लाना चाहते हैं वह आपके पास विद्यमान हो। यदि वह वस्तु आपके पास है ही नहीं तो आप उसको उपयोग में कैसे लाओगे ? दूसरी बात यह है कि उसको उपयोग में लाने की शक्ति आपके पास हो। शक्ति नहीं है, तब भी उपयोग में लाने की बात नहीं हो सकेगी।

फिर मैंने बताया कि शक्ति तीन प्रकार की है—शारीरिक बल, मानसिक बल, और आत्मिक बल। यह भी बताया कि शारीरिक शक्ति

को बढ़ाने और बनाए रखने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—आहार (भोजन), निद्रा और ब्रह्मचर्य, अर्थात् खाने-पीने से जो शक्ति प्राप्त हो, उसे गँवाना नहीं; जहाँ तक हो सके उसे सँभालकर रखना। ये तीन बातें जिसके पास हैं वह बुढ़ापे में भी जवान रहता है। इसीलिए वेद भगवान् ने कहा है—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसा पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुषमुच्यते॥

'जरस् (बुढ़ापा) होने से पहले आँखें उसका त्याग नहीं करतीं, अर्थात् उसकी आँखें ठीक काम करती रहती हैं। जरस् होने से पहले प्राण उसे नहीं छोड़ते, अर्थात् ठीक प्रकार से काम करते रहते हैं। परन्तु किसको नहीं छोड़ते ? जिसने पहले उस ब्रह्म को जाना है, जिसको परमपुरुष कहते हैं।'

परन्तु ब्रह्म को या परमपुरुष को जानना क्या है ? यह कि उसने जो नियम बना रक्खे हैं, उन्हें न भूलो ! उनका पालन करो !

और यह 'जरस्' या जरावस्था क्या है ? हमारे आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार पाँच वर्ष की आयु तक मनुष्य 'शिशु' अर्थात् बच्चा होता है। बारह वर्ष की आयु तक 'बालकपन' अर्थात् 'लड़कपन' में रहता है। ८५ वर्ष की उम्र तक 'युवा' रहता है। इसके पश्चात् एक सौ दस वर्ष की आयु तक बूढ़ा रहता है और इसके बाद एक सौ बीस वर्ष की आयु होने तक 'जरस्' अर्थात् 'जरावस्था' में रहता है।

जरावस्था अर्थात् 'ज़ईफ़ी' या अस्ली बुढ़ापा ११० की आयु के पश्चात् आरम्भ होना चाहिए। अब तो ५० वर्ष की आयु के लोग ही कहने लगते हैं कि 'अब तो बूढ़े हो गए जी ! अब क्या करना है ! क्या हो सकता है !'

परन्तु ऐसा होता क्यों है ? इसलिए कि उन लोगों ने अपने शरीर का ध्यान नहीं रक्खा; खोटे-झूठे विचारों को अपने मन में स्थान दिया; सदा निराशावादी बने रहे; हर घड़ी, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक बात में, प्रत्येक मनुष्य में, प्रत्येक दशा में दोष-ही-दोष देखते रहे। ऐसे लोग युवावस्था में ही बूढ़े हो जाते हैं। विचारों का गहरा प्रभाव पड़ता

है मनुष्य के शरीर पर। कल मैंने अमेरिका के मिस्टर बेंट की बात सुनाई थी। वे स्पष्टतया कहते हैं कि खोटे विचार मनुष्य के शरीर को नष्ट करके रख देते हैं और समय से पहले ही उसको बूढ़ा बना देते हैं।

अब देखिये, एक आदमी खाना तो बहुत खाता है, परन्तु व्यायाम नहीं करता, सैर नहीं करता, योग के आसन नहीं करता। बस, खाता है और पड़ा रहता है। ऐसे आदमी की क्या दशा होगी ? यहाँ तो ऐसे आदमी बहुत नहीं हैं, परन्तु बम्बई में मैंने देखा है कई सेठों को। बहुत बड़े-बड़े, बड़े-बड़े धन-कुबेर सेठ हैं वे ! खूब खाते हैं वे—मलाई, बर्फ़ी, रसगुल्ले, गुलाब जामुन—भाँति-भाँति की मिठाइयाँ, नाना प्रकार के भोजन, चटनियाँ, कई प्रकार के फल, और खाकर 'डनलप-पिल्लो' को सिर के नीचे रखकर लेट जाते हैं। कुछ महीनों के पश्चात् होता यह है कि वह पीछे रक्खा हुआ तकिया आगे पेट पर आ जाता है।

याद रक्खो, पेट बढ़ा तो शरीर बिगड़ा। खाना चाहते हो तो खाओ अवश्य। और फिर यदि मैं कह भी दूँ कि 'मत खाओ' तो मानेगा कौन ? इसलिए खाओ, भाई ! परन्तु जो खाओ उसको पचाओ भी तो ! उसे शरीर की शक्ति बनाओ ! चर्बी मत बनने दो !

लाहौर में एक दुर्गा मोटा रहता था। एक बार वह 'मिलाप'-कार्यालय में आया तो मैं उसको देखकर भौंचक्का रहा गया। मैंने रणवीर से कहा, 'आओ देखें तो सही कि इसके पेट का घेरा कितना है ?' हम दोनों पिता-पुत्र ने बाहें फैलाकर उसको लपेटने का यत्न किया। बहुत ही कठिनाई से हमारी अँगुलियाँ एक-दूसरे को छू पाईं। इतना मोटा था वह ! मैंने कहा, 'दुर्गा ! इतना मत खाया करो !'

वह बोला, 'अभी तो युवावस्था है। अभी तो खाने के दिन हैं। बुढ़ापे में क्या खाया जाएगा ?'

मैंने कहा, 'अरे ! इतना खायेगा तो बुढ़ापा आएगा ही नहीं, युवावस्था में ही मर जाएगा।' और दूसरे वर्ष वह वस्तुतः मर ही गया।

देखो, शरीर का जन्म होता है तो भगवान् इसके साथ एक राशन-कार्ड भी लगा देता है कि इस आदमी को जीवन-भर में कितना खाना-पीना है, कितना सोना है।

जो आदमी युवावस्था में बहुत सोता है, उसको बुढ़ापे में नींद नहीं आती; कारण कि उसका सोने का राशन समाप्त हो चुकता है। जो पहले बहुत खाता है उसको बुढ़ापे में भूख नहीं लगती; उसका खाने का राशन समाप्त हो गया होता है।

इसलिए मेरे भाइयो, अधिक समय और सुख से जीना चाहते हो तो अपने राशन को थोड़ा-थोड़ा करके काम में लाओ। कितना सीधा और सरल उपाय है यह ! थोड़ा खाओ, कम सोओ तो अधिक काल तक जियोगे, अधिक सुख-सहित। जो खाते हो, उसको पचाओ भी अवश्य। ऐसा नहीं करोगे तो शरीर अस्वस्थ हो जाएगा। जब शरीर स्वस्थ नहीं रहता तो फिर कोई काम नहीं होता; न भोजन, न भजन। ऐसे आदमी को हर समय कोई-न-कोई रोग घेरे रहता है। वह भजन में बैठता है तो कभी कमर में पीड़ा, कभी टाँगों में दर्द, कभी बाँह में। तब वह आत्म-चिन्तन और प्रभु-चिन्तन करने के स्थान पर कहता है—'भगवन् ! मेरी कमर की पीड़ा दूर करो !'

भला भगवान् क्या ऐस्परीन की गोली है कि तुम्हारी पीड़ा दूर कर दे ?

अरे, भगवान् से माँगना है तो कोई बड़ी वस्तु माँग ! यह क्या कि उसको ऐस्परीन की गोली बनाए देता है ! देखो, मैं यदि जाऊँ प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के पास; वह भेंटने का समय दे दें; मैं पहुँच जाऊँ कोठी पर; बैठ जाऊँ उनके कमरे में; वह आएँ और पूछें, 'कहिये, आपके लिए क्या करूँ ?' और मैं कहूँ 'मुझे छः आने के रसगुल्ले मँगवा दीजिये।' तो वह क्या समझेंगी ? यही न कि पागलखाने का दरवाज़ा कहीं खुला रह गया है ? अरे, प्रधानमंत्री के पास गया है तो कोई बड़ी वस्तु माँग, छः आने के रसगुल्ले तो किसी दूसरे स्थान पर भी मिल जायेंगे।

और देखो ! रोगी कौन रहता है ? वह, जो कुढ़ता अधिक है;

स्वभाव जिसका चिडचिड़ा है; जिसे बात-बात पर क्रोध आ जाता है। ये सब बातें यकृत में विकार उत्पन्न करती हैं; भोजन पचता नहीं; खून बनता नहीं; फिर भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग जागने लगते हैं। हमें कई घरों में जाना पड़ता है न ! किसी-किसी घर में माता बड़े दुःख से कहती है, 'क्या करूँ ! हमारा बच्चा खाता तो ठीक है, परन्तु स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। इसका पोषण ठीक ढंग से नहीं हो रहा।' इस प्रकार बातें चल पड़ती हैं और पता चलता है कि बच्चे को क्रोध बहुत आता है। मैं कहता हूँ 'माँ, इसका क्रोध रोक ! इसको प्रसन्न रहने की आदत डलवाओ। यदि यह अपने-आपको क्रोध की आग में जलाता रहा तो इसका कुछ भी ठीक नहीं रहेगा।'

'क्रोध' मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। शरीर का सत्यानाश जितना यह करता है, उतना कोई दूसरी बात नहीं करती। एक घर में मैं गया। पिता भी बैठे थे; बच्चे भी। पिता ने शिकायत की, 'हमारे बच्चों को क्रोध बहुत आता है।' तभी टेलिफ़ोन की घंटी बजी; पिता टेलिफ़ोन सुनने साथवाले कमरे में गए तो बच्चों ने कहा, 'हमारे पिता जी को बहुत क्रोध आता है।' मैंने मन-ही-मन हँसते हुए कहा, 'यहाँ तार नहीं, पूरा ताना ही बिगड़ा पड़ा है।'

कई लोग कहते हैं, 'स्वामी जी, आप कहते तो ठीक हैं कि क्रोध बड़ी बुरी वस्तु है। परन्तु क्या करें, क्रोध आ ही जाता है।' मैं मानता हूँ कि कभी-कभी वस्तुतः क्रोध आ जाता है। परन्तु देखो, आज आपको योग की एक क्रिया बताता हूँ। इसके करने से आया हुआ क्रोध भी चला जाएगा। क्रोध दो कारणों से आता है—एक तो यह कि आपने किसी से कोई बात कही और उसने नहीं मानी तो आपको क्रोध आ गया। दूसरा यह कि किसी ने कोई काम बिगाड़ दिया, कोई क्षति पहुँचा दी तो आपको क्रोध आ गया।

परन्तु क्रोध किसी भी कारण आया हो, उसको दबाने, रोकने और दूर करने का एक बहुत ही सरल उपाय यह है कि जैसे ही क्रोध आए, वैसे ही अपनी जीभ ऊपर तथा नीचे के दाँतों के बीच दबा लीजिये; पर्याप्त बलपूर्वक दबाएं; परन्तु इतना बल लगाकर नहीं कि रक्त

वहने लगे। फिर भीतर मन में 'ओं३म् तत्सत्, ओ३म् तत्सत्, ओ३म् तत्सत्' की रट लगा दें। थोड़े ही समय में क्रोध दूर हो जाएगा। इसका कारण यह है कि जीभ के भीतर जो सूक्ष्म नसें हैं, वे मस्तिष्क की नसों से जुड़ी रहती हैं। जीभ की नसें दवती हैं तो मस्तिष्क की नसें भी दब जाती हैं जो क्रोध के कारण फूल उठती हैं। उनके दवते ही क्रोध भाग जाता है।

यह नुस्खा याद रखना ! घर में जाकर इसकी परीक्षा करना ! घरवाले से, घरवाली से कहना कि कोई ऐसी बात कहो जिससे मुझे क्रोध आ जाय; और जब क्रोध आय तो मेरा नुस्खा बरतकर देखना कि क्या होता है।

क्रोध करना जैसे शरीर को विगाड़ता है, वैसे ही प्रसन्न रहना उसको ठीक कर देता है। जो व्यक्ति ग़रीवी, कष्ट, आपदा—प्रत्येक अवस्था में प्रसन्न रहता है, उसको रोग सरलता से पकड़ता नहीं। जो लोग अपने स्वभाव को चिड़चिड़ा वना लेते हैं, जिन्हें बात-बात पर क्रोध आता रहता है, उनके शरीर को भगवान् बचाए तो बचाए, वे स्वयं तो उसको बचा नहीं सकते !

एक सज्जन बोले, 'आप कहते हैं, क्रोध मत करो। भला देखिये इन बच्चों को, कितना शोर मचा रक्खा है ! इनपर क्रोध न आए तो क्या हो ?'

मैंने कहा, 'बच्चे तो शोर करते ही हैं। तुम जब बच्चे थे, तब तुम भी शोर मचाते थे। अब इनपर क्रोध क्यों करते हो ? अपना बचपन भूल गया तुम्हें। इनका बचपन तुम्हें अखरता है।'

सो भाई, इन बातों पर भी क्रोध मत करो ! अपने स्वभाव को चिड़चिड़ा मत बनाओ ! सात्विक भाव से शरीर ठीक रहता है; राजसी स्वभाव इसमें रोग उत्पन्न कर देता है; तामसी स्वभाव इसका सत्यानाश कर देता है।

परन्तु शरीर को ठीक रखने के लिए एक बात और भी आवश्यक है कि यदि शरीर में कोई त्रुटि उत्पन्न हो जाय, कोई रोग लग जाय तो उसका उपचार ठीक ढंग से करो। उसे दूर करने का प्रयत्न करो !

जिस बात से, जिस वस्तु के खाने से वह त्रुटि उत्पन्न हुई है, उसे मत खाओ ! यदि खाँसी है तो चाट, चटनी, इमली, अनारदाना, गलगल का अचार, लाल मिर्च, मिर्चों का अचार और ऐसी ही दूसरी वस्तुएँ मत खाओ !

परन्तु आजकल तो इस विषय में भी नई-नई बातें होने लगी हैं। यह डॉक्टर महोदय हैं न ! इनके पास जाओ तो यह दवाई देंगे अवश्य, परन्तु यदि खाने के विषय में पूछें तो कहेंगे, 'जो चाहो, खाओ।' यह 'जो चाहो' की बात मुझे समझ नहीं आती। आदमी चाहे तो क्या वह विष भी खा ले ? तो फिर बचेगा कैसे ?

नहीं, यह 'जो चाहो' की बात ठीक नहीं। चिकित्सा के साथ-साथ पथ्य भी आवश्यक है। पथ्य न रक्खो तो स्वास्थ्य-लाभ होगा नहीं।

एक थे सेठ जी। उन्हें खाँसी का रोग था। बहुत भयानक खाँसी उठती थी उन्हें। परन्तु उन्हें चस्का था खट्टे पदार्थ खाने का—खट्टी लस्सी, खट्टा दही, खट्टी वस्तुयें। खाँसते भी रहते और ये वस्तुएँ भी खाते रहते। बहुत उपचार किये। खाँसी ठीक नहीं हुई। दवाई भी खाते थे और वैद्य, हकीम और डॉक्टरों द्वारा निषेध कर देने पर खट्टे पदार्थ भी। अन्त में एक वैद्य जी पहुँचे इनके पास; बोले, 'सुनाइये सेठ जी, क्या आपको खाँसी बहुत है ?'

सेठ जी ने कहा, 'हाँ, वैद्य जी ! खाँसी बहुत है और बढ़ती ही जाती है। हज़ारों रुपये मैं व्यय कर चुका, यह ठीक होने में ही नहीं आती।'

वैद्य जी ने पूछा, 'ऐसी क्या बात है ? दवाई खाते-खाते भी खाँसी बढ़ती कैसे जाती है ?'

सेठ जी बोले, 'मुझे खट्टे पदार्थ खाने की आदत है; इनके बिना भोजन रुचिकर नहीं लगता। दवा करनेवाले कहते हैं—इन्हें छोड़ दो; मैं छोड़ता नहीं और दशा बिगड़ती जा रही है।'

वैद्य जी ने कहा, 'अच्छा, तो मैं आपकी चिकित्सा करता हूँ। आप यह दवा खाइये—एक रत्ती प्रातः शहद के साथ, एक रत्ती सायं इसी प्रकार। और जो मन में आए, खाते रहिये।'

सेठ जी बोले, 'आप तो बड़े अच्छे आदमी हैं ! आपने मुझे खट्टे पदार्थ खाने का निषेध नहीं किया। नहीं तो जो भी दवाई करता था, यही कहता था कि खट्टे पदार्थ मत खाना।'

वैद्य जी ने कहा, 'नहीं जी, आप खाओ; मैं नहीं रोकता।'

और उन्होंने सेठ जी को 'पंचामृत रस' दे दिया; खाँसी की बहुत अच्छी दवा है यह। सेठ जी दवाई खाते रहे; खट्टे पदार्थ भी। आठ-दस दिन के पश्चात् वैद्य जी सेठ जी के यहाँ फिर पहुँचे; बोले, 'सुनाओ सेठ जी, क्या हाल है ?'

सेठ जी ने कहा, 'हाल तो अच्छा है; मैं दवाई खाता रहा; चटनी, अचार, दही, लस्सी, चाट-खाट-वाट सब खाता रहा, परन्तु खाँसी बढ़ी नहीं; कम भी नहीं हुई।'

वैद्य जी बोले, 'आप तो व्यर्थ की चिन्ता करते हैं। खाँसी रहे तो अच्छा ही है। इसके कितने ही लाभ हैं।'

सेठ जी ने आश्चर्य से कहा, 'खाँसी से लाभ भी होते हैं ? क्या कहते हैं आप ?'

वैद्य जी बोले, 'हाँ, एक तो यह कि जिस आदमी को खाँसी बहुत उठती हो, उसके घर में चोरी नहीं होती। दूसरा यह कि उसको कुत्ता नहीं काटता। और तीसरा यह कि वह कभी बूढ़ा नहीं होता।'

सेठ जी बोले, 'यह कैसे सम्भव है ?'

वैद्य जी बोले, 'जिस आदमी को खाँसी है और खट्टे पदार्थ खाना बन्द नहीं करता; दिन को भी खाँसता है, रात को भी खाँसता है, तो रात को सोएगा कैसे ? और जिस घर में कोई जाग रहा हो, उसमें चोर आएगा कैसे ? और फिर यदि उस आदमी को खाँसी है, यदि खाँसी खट्टे पदार्थ खाने से बढ़ती जाती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह निर्बल होता जाय; उसका नर्व-सिस्टम विकृत हो जाय; सहारे के बिना चलने का सामर्थ्य उसमें न रहे; तब वह हाथ में लकड़ी लेकर चलेगा और जिसके हाथ में लाठी होगी उसके समीप कुत्ता आएगा ही नहीं; फिर काटेगा कैसे ? और तब जिस आदमी की दशा खाँसी से यह हो जाय और जो खट्टे पदार्थ खा-खाकर खाँसी को बढ़ाता जाय,

उसके लिए बूढ़ा होने का समय ही कब आएगा ? वह तो युवावस्था में ही मर जाएगा।'

तीनों बातें सिद्ध कर दीं उन्होंने। इसके पश्चात् भी सेठ जी ने चटनी-चाट को छोड़ा या नहीं, इस बात को तो छोड़िये, परन्तु यह सर्वथा सच है कि शरीर को ठीक रखने के लिए और शारीरिक बल की प्राप्ति के लिए तप भी करना पड़ता है। इसको शारीरिक तप कहते हैं। यह मोटर जिस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मिली है, वहाँ तक पहुँचने के लिए इससे काम लो। यह एक अनमोल रत्न है। इसको नष्ट मत होने दो !

ऐसे ही मानसिक बल के लिए आवश्यक है कि मन को प्रसन्न रक्खो। छोटे और खोटे विचार इसमें न आने पावें। निराशावादी मत बनो ! दूसरों की निन्दा करने और उनके दोष देखने का अपना स्वभाव मत बनाओ ! हर घड़ी दूसरों की आलोचना मत करते रहो ! दुःख हो, कष्ट हो, ग़रीबी हो, रोग हो, कुछ भी हो, तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो और प्रसन्न रहो ! चिन्ता को अपने समीप भी मत फटकने दो ! इस प्रकार मानसिक बल मिलता है; यह मानसिक तप है। दोनों का विवरण देने के पश्चात् कल आत्मिक बल की बात आरम्भ करने लगा तो समय बहुत हो गया था। परन्तु समय तो बीतता ही रहता है। आज भी बीत जाएगा, इसलिए आज आत्मिक बल की बात कहता हूँ।

शरीर के लिए जैसे भोजन की आवश्यकता है, ऐसे ही आत्मा के लिए भी। इसको अच्छा बलशाली खाना देंगे; शुद्ध, पवित्र, सात्विक भोजन देंगे तो यह बलवान् होगा। बुरा भोजन देंगे या भूखा रक्खेंगे तो निर्बल हो जाएगा।

आप कहेंगे कि आत्मा तो दिखाई ही नहीं देता; उसको भोजन कैसे दें ? कौन-सा दें ? तो सुनो !

ध्यान—ध्यान है आत्मा का भोजन। आत्मा इन्द्रियों में जकड़ा हुआ है; मन में बँधा हुआ है; इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होकर मन जब आत्मा की ओर देखता है तब ध्यान होता है।

गंदगी, कूड़ा-कर्कट फेंकते रहो और फिर साय-समय चाहो कि उसके पानी में अपना चेहरा देखो तो दीखेगा क्या ?

ऐसा ही यह मन भी है। इसमें यदि दिन-भर घृणा, ईर्ष्या, शत्रुता, वैर-विरोध, अप्रतिष्ठा के कंकड़-पत्थर डालते रहो और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार की गन्दगी डालते रहो तो सोचकर देखो कि प्रातः या सायं चित्त लगेगा क्या ?

ध्यान के लिए दिनभर में चौबीसों घंटे प्रयत्न करना पड़ता है; परिश्रम करना पड़ता है; तब जाकर ध्यान लगता है। और ध्यान—

ध्यान-सिन्धु मुक्ता घने, जो खोजे सो पाय।
चंचलता मन की मिटे, सहज शांति मिल जाय॥

सुनो मेरे भाइयो ! मेरी माताओ ! मेरी बच्चियो ! शांति न यूरोप में है, न अमेरिका में, न चीन में है, न जापान में, न किसी दूसरे स्थान पर। वह तुम्हारे भीतर (मन में) है। वहाँ खोजो उसे, तो शांति मिल जाएगी—

मेरे कानों में आहिस्तः कहा पीरे-तरीक़त ने,
तू जिसको ढूँढता है वो तो तेरे दिल में रहते हैं॥
करूँ क्योंकर न मैं सिज्दा झुकाकर अपने सीने को।
कि सीने में मेरा दिल है, वो मेरे दिल में रहते हैं॥

अरे ! क्या भटक रहे हो बाहर ? क्यों भटकते हो जंगलों और रेगिस्तानों में ? तुम्हारा प्रीतम तो तुम्हारे भीतर बैठा है। तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने क्या ही सुन्दर कहा था—

'अब्बा नेड़े, मानड़ा काहे करे [illegible] !'

'अरी ! यह झूठा अभिमान छोड़ दे ! तेरे अपने ही घर में, तेरे ही भीतर तेरा प्रीतम प्रभु विराजमान है। अरी ओ पगली ! तेरा पति तेरे पास है, बाहर क्या ढूँढ रही है तू ?'

दिल के आईने में है तस्वीरे-यार;
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। जंगलों और पहाड़ियों में

ध्यान क्या है ?

'ध्यानं निर्विषयं मनः'

'मन का इन्द्रियों के विषय-विकार से परे हट जाना ध्यान है।' आँखें हैं, देखती नहीं हैं; कान हैं, सुनते नहीं हैं; जिह्वा है, बोलती नहीं है; प्रत्येक वस्तु का स्वाद उसको भूल गया है; ऐसे ही दूसरी इन्द्रियों से सम्बद्ध कोई विचार नहीं रहा है; संसार, समाज, परिवार, शरीर— किसी के भी सम्बन्ध में कोई विचार मन में नहीं उठता; किसी से शत्रुता नहीं; किसी से द्वेष नहीं; किसी से घृणा नहीं; किसी का मोह नहीं; कोई भी चिन्ता नहीं। इस प्रकार सब ओर से शान्त होकर, एकाग्र होकर मन जब केवल प्रभु को देखता है, उसके ही सम्बन्ध में सोचता है, उसके प्यार में पागल होता है, तब ध्यान होता है।

कई लोग कहते हैं कि हम भजन में बैठते तो हैं, पर मन नहीं टिकता। ठीक है, आरम्भ में मन टिकता नहीं है। इसके लिए साधन करने पड़ते हैं। यत्न करना पड़ता है। आप कहते हैं, ध्यान नहीं लगता। परन्तु, उससे पहले की छः सीढ़ियाँ क्या आपने पार की हैं? यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा—ये छः सीढ़ियाँ पार करने के बाद सातवीं सीढ़ी आती है, जिसको 'ध्यान' कहते हैं। आपने पहली छः सीढ़ियाँ तो पार की नहीं और चाहते हो कि उछलकर सातवीं पर पहुँच जायँ! यह बात होगी कैसे? तुमने जाना है दिल्ली से कश्मीर, और चाहते हो यह कि हरियाणा, पंजाब, जम्मू में से गुज़रे बिना वहाँ पहुँच जायँ! कैसे पहुँचोगे? यम-नियम का पालन तुमने किया नहीं; घृणा, निन्दा, शत्रुता की भावनाओं को तुमने त्यागा नहीं; सबको अपना समझकर मन में उदारता तुमने उत्पन्न नहीं की; धन-वैभव-सम्पत्ति का मोह तुमने छोड़ा नहीं; स्नेह भी कर रहे हो, लड़ भी रहे हो, मुकद्दमे भी चला रहे हो; झूठ तुमसे छोड़ा नहीं गया; ईर्ष्या तुमने छोड़ी नहीं और चाहते हो कि ध्यान लग जाय तो कैसे लगेगा?

मान लो, तुम्हारे घर में एक तालाब है, तुम उसके पानी में दिन-भर ईंट, कंकड़, पत्थर फेंककर उसके पानी को हिलाते रहो, उसमें

गंदगी, कूड़ा-कर्कट फेंकते रहो और फिर साय-समय चाहो कि उसके पानी में अपना चेहरा देखो तो दीखेगा क्या ?

ऐसा ही यह मन भी है। इसमें यदि दिन-भर घृणा, ईर्ष्या, शत्रुता, वैर-विरोध, अप्रतिष्ठा के कंकड़-पत्थर डालते रहो और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार की गन्दगी डालते रहो तो सोचकर देखो कि प्रातः या सायं चित्त लगेगा क्या ?

ध्यान के लिए दिनभर में चौबीसों घंटे प्रयत्न करना पड़ता है; परिश्रम करना पड़ता है; तब जाकर ध्यान लगता है। और ध्यान—

ध्यान-सिन्धु मुक्ता घने, जो खोजे सो पाय।
चंचलता मन की मिटे, सहज शांति मिल जाय॥

सुनो मेरे भाइयो ! मेरी माताओ ! मेरी बच्चियो ! शांति न यूरोप में है, न अमेरिका में, न चीन में है, न जापान में, न किसी दूसरे स्थान पर। वह तुम्हारे भीतर (मन में) है। वहाँ खोजो उसे, तो शांति मिल जाएगी—

मेरे कानों में आहिस्तः कहा पीरे-तरीक़त ने,
तू जिसको ढूँढता है वो तो तेरे दिल में रहते हैं॥
करूँ क्योंकर न मैं सिज्दा झुकाकर अपने सीने को।
कि सीने में मेरा दिल है, वो मेरे दिल में रहते हैं॥

अरे ! क्या भटक रहे हो बाहर ? क्यों भटकते हो जंगलों और रेगिस्तानों में ? तुम्हारा प्रीतम तो तुम्हारे भीतर बैठा है। तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने क्या ही सुन्दर कहा था—

'अब्बा नेड़े, मानड़ा काहे करे री !'

'अरी ! यह झूठा अभिमान छोड़ दे ! तेरे अपने ही घर में, तेरे ही भीतर तेरा प्रीतम प्रभु विराजमान है। अरी ओ पगली ! तेरा पति तेरे पास है, बाहर क्या ढूँढ रही है तू ?'

दिल के आईने में है तस्वीरे-यार;
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। जंगलों और पहाड़ियों में

खोजने की आवश्यकता नहीं है। जिसको तुम खोजते हो, वह तो तुम्हारे भीतर बैठा है। देख रहा है कि कब तुम जागो; कब उसको देखो; कब उसके सामने जाकर अपने सारे दुःखों को, कष्टों को, आपदाओं को भूल जाओ; कब प्यारे के उस आनन्दभरे अपार पारावार में आ जाओ जिसका कोई अन्त नहीं है—

ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझमें बसे, जाग सके तो जाग॥

यह जागना क्या है ? सारे संसार से अलग-थलग होकर, इन्द्रियों से पृथक् होकर, संसार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, संसार की प्रत्येक इच्छा को छोड़कर प्रभु के ध्यान में खो जाना, अपने-आपको उसके साथ जोड़ देना, उस अनन्त प्रकाश के साथ अपने-आपको मिला देना जिसकी तुलना में करोड़ों-अरबों सूर्यों का प्रकाश भी फीका प्रतीत होता है।

ये बिजली के बल्ब हैं न, इनके प्रकाश से यह सारा पण्डाल जगमगाता है। परन्तु इनमें प्रकाश आया कहाँ से ? इन बल्बों से नहीं, अपितु उस पॉवर-हाउस से जिनके साथ इनका कनैक्शन जुड़ा हुआ है। इस कनैक्शन को तोड़ दीजिये, कहीं से कोई तार थोड़ी-सी भी काट दीजिये, प्रकाश की यह धारा आप-से-आप बन्द हो जाएगी।

ऐसे ही भाई, यदि हम भी अपने-आपको पॉवर-हाउस से जोड़ दें, ध्यान की तार से कनैक्शन उत्पन्न कर दें दोनों में, तो हमारे भीतर भी प्रकाश आएगा; शान्ति आएगी; आनन्द आएगा; शक्ति आएगी; ज्ञान आएगा; वे सब-के-सब गुण मिल जाएँगे जो उस पॉवर-हाउस में विद्यमान हैं।

मैं एक सायंकाल एक सज्जन के घर में बैठा था। ड्राइँग-रूम में टेलिविज़न के सेट के पर्दे पर कोई गा रहा था। बहुत अच्छा गीत था वह। गानेवाले की आकृति भी सुन्दर थी। घर के सब लोग आनन्दपूर्वक सुन रहे थे। तभी एकदम तस्वीर हिलने लगी, और फिर ठप-से समाप्त हो गई। ध्वनि अब भी सुनाई दे रही थी, गानेवाला लुप्त हो गया था। मैंने पूछा, 'क्या हुआ ?'

घर के स्वामी बोले, 'मैं इसे अभी ठीक करता हूँ। टेलिविज़न में तस्वीर के ट्यूब की तार हिल जाती है तो कनैक्शन हट जाता है, कनैक्शन ठीक होते ही तस्वीर फिर आ-जाएगी।'

मैंने धीमे से कहा, 'हाँ, कनैक्शन ठीक होने पर तस्वीर आएगी अवश्य !'

परन्तु मैं टेलिविज़न के कनैक्शन और तस्वीर की बात नहीं कह रहा था, मन के इस टेलिविज़न में आत्मा और परमात्मा के कनैक्शन की बात कह रहा था। यह कनैक्शन ठीक हो, तभी तस्वीर दिखाई देती है; भगवान् के दर्शन होते हैं; तुम्हारा प्रीतम प्यारा आत्मा की आँखों के सामने आ जाता है। यह कनैक्शन टूट जाय तो फिर तस्वीर दिखाई नहीं देती।

कई सज्जन मेरे पास आते हैं तो वे कहते हैं, 'क्या आत्म-दर्शन और प्रभु-दर्शन की कोई सरल विधि नहीं है ? क्या कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती कि जैसे टैलिविज़न का बटन घुमाने से तस्वीर आ जाती है, विजली का बटन दवाते ही प्रकाश हो जाता है, वैसे ही कोई बटन दवाने से ही भगवान् के दर्शन हो जायँ ?'

मैं कहता हूँ, 'मार्ग है तो ! भगवान् के साथ अपना कनैक्शन जोड़ लो। अपने टेलिविज़न के टूटे हुए तार को सुधार लो। मैं बटन दवाऊँगा, प्रकाश हो जाएगा। परन्तु तुम तो कनैक्शन जोड़ो नहीं, तार को टूटा हुआ ही रहने दो, तव मेरे बटन दवाने से क्या होगा ?'

लोग तो आजकल सरल वात चाहते हैं। झटपट का सौदा हो। कई लोग झटपट का सौदा करते भी हैं—किसी के कान में कोई मन्त्र बोल देते हैं, और कहते हैं, 'जाओ, तुम्हारा कल्याण हो गया।' कई कहते हैं कि 'अमुक नदी में स्नान कर लो, स्वर्ग मिल जाएगा, मुक्ति मिल जाएगी, जन्म-जन्म के पाप नष्ट हो जाएँगे।' ऐसा झटपट का सौदा हमारे पास है नहीं। हम तो केवल 'ग्रण्ड ट्रंक रोड' का वह मार्ग वता सकते हैं जो लम्बा तो अवश्य है, परन्तु निश्चित रूप से लक्ष्य तक पहुँचता है। दूसरे लोग पगडंडियों के मार्ग वताना चाहते हैं तो वताएँ परन्तु इन पगडंडियों पर चलने से लोग प्रायः भटक जाते हैं।

वास्तविकता यह है कि आजकल का संसार प्रकृति-पूजा करता है, प्रकृति के पीछे दौड़ रहा है। दौड़ना चाहते हो तो दौड़ो, परन्तु प्रकृति के पीछे दौड़ने से परमात्मा तो मिलेगा नहीं। तुम सारी भूमि पर घूम आओ, नदियाँ और पहाड़ छान मारो, समुद्र के तल पर पहुँच जाओ या चाँद पर चले जाओ, और चाँद से भी आगे मंगल, वृहस्पति, शनि तक पहुँच जाओ, मन की शांति कभी मिलेगी नहीं। मन की शांति, आत्मा की शांति तो परमात्मा के पास है, तुम उसको इधर-उधर ढूंढते फिरते हो तो मिलेगी कैसे ?

देखो, यह प्रकृति केवल 'सत्' है, अर्थात् इसका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त इसमें कोई गुण नहीं। इसके अनन्त रूप तुम देखते हो—कहीं यह जलती हुई आग है तो कहीं बहता हुआ पानी; कहीं झूमते हुए वृक्ष हैं तो कहीं मुस्कराते हुए फूल; कहीं गर्जते हुए जलप्रपात हैं तो कहीं उफनते हुए समुद्र; कहीं मस्तीभरी आँखें हैं तो कहीं बादल की घटा-सरीखी काली-काली अलकावली; कहीं युवावस्था की मस्तियाँ हैं तो कहीं बचपन की निरीहता; कहीं खनखनाता धन है तो कहीं चमकती हुई सम्पत्ति। ये सब प्रकृति के रूप हैं। परन्तु ये सब उस शक्ति के ही कारण अस्तित्व में आए हैं जो प्रकृति नहीं, अपितु परमात्मा है।

और यह जो 'आत्मा' है यह 'सत्' और 'चित्' है। यह विद्यमान भी है, और जीता-जागता तथा अनुभवकर्ता भी है। आनन्द की, सुख की, चैन की, आनन्द और शांति की तलाश है उसको। परन्तु सुख, चैन और शांति आत्मा में है नहीं; यह तो परमात्मा में है जो **'सत्'** भी है, **'चित्'** भी है, और **'आनन्द'** भी है। शांति, चैन, आनन्द चाहियें तो परमात्मा की ओर चलो, प्रकृति की ओर नहीं। प्रकृति तुम्हें कुछ दे नहीं सकती।

मेरी कई बेटियाँ यहाँ बैठी हैं। उन्हें यदि 'स्वैटर' बुनना हो तो धागा लेने के लिए वे कहाँ जाती हैं ? उस दुकान पर जहाँ ऊन का धागा मिलता है। ऐसा न करके यदि वे किसी हलवाई की दुकान पर चली जायँ और कहें कि हमें इतने पौंड अमुक ऊन का धागा दे दो तो

हलवाई कहेगा, 'मेरे पास कहाँ आ गई हो, बहन ! मैं तो जलेबी बेचता हूँ; बर्फ़ी, क़लाक़न्द, लड्डू और इमरती आदि बेचता हूँ। मेरे पास ऊन का धागा है नहीं।'

परन्तु मेरी ये बेटियाँ समझदार हैं। ऊन के लिए उस दुकान पर जाती हैं जहाँ ऊन का धागा मिलता है। वे लोग नासमझ हैं जो प्रकृति के पीछे उस सुख, चैन, आनन्द व शांति के लिए भागते फिरते हैं जो उसके पास है नहीं।

सुनो ! वह शांति, वह सुख, वह चैन, वह आनन्द तुम्हारे भीतर है। क्यों बाहर भाग रहे हो तुम ? ध्यान लगाकर देखो, तुम्हें पता चल जायगा कि जिसे तुम ढूंढते फिरते हो, वह बाहर नहीं, तुम्हारे भीतर बैठा है—

न मस्जिद से ग़रज़ मुझको, न मन्दिर से मुझे मतलब।
मुझे तो दिल की दुनिया में ख़ुदा मालूम होता है॥

यहाँ है वह, जिसे तू ढूंढ रहा है—

इस विश्वास को पैदा करके आएगा जब।
इन्द्रियों को भीतर की ओर ले-जाना है तब॥

इसको 'प्रत्याहार' कहते हैं। प्रत्याहार का अभिप्राय है—सर्वथा पीछे की ओर मुड़ जाना अर्थात् Right About Turn. अपनी इन्द्रियों से कहना कि बाहर की ओर नहीं; भीतर की ओर ध्यान दो ! कानों से कहना कि बाहर की नहीं, भीतर की पुकार सुनो ! आँखों से कहना कि बाहर नहीं, भीतर के दृश्य को देखो ! इस प्रकार सब इन्द्रियों को भीतर की ओर ले-जाने का नाम 'प्रत्याहार' है।

ये सब इन्द्रियाँ जब भीतर की ओर जाकर एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाती हैं, जब मन एकाग्र हो जाता है, तब ध्यान लगता है। तब यह महाशक्ति जागती हुई दिखाई देती है जो तुम्हारे भीतर विद्यमान है। आजकल के वैज्ञानिकों का कहना है कि एक एकड़ भूमि पर जितनी घास उगती है, उसको यदि परमाणु शक्ति में बदल दिया जाय तो वह इतनी शक्ति होगी कि संसार-भर के कारखानों को चला सके। परन्तु यह घास ऐसा नहीं कर सकती तो इस कारण कि इसकी शक्ति बिखरी

वास्तविकता यह है कि आजकल का संसार प्रकृति-पूजा करता है, प्रकृति के पीछे दौड़ रहा है। दौड़ना चाहते हो तो दौड़ो, परन्तु प्रकृति के पीछे दौड़ने से परमात्मा तो मिलेगा नहीं। तुम सारी भूमि पर घूम आओ, नदियाँ और पहाड़ छान मारो, समुद्र के तल पर पहुँच जाओ या चाँद पर चले जाओ, और चाँद से भी आगे मंगल, वृहस्पति, शनि तक पहुँच जाओ, मन की शांति कभी मिलेगी नहीं। मन की शांति, आत्मा की शांति तो परमात्मा के पास है, तुम उसको इधर-उधर ढूंढते फिरते हो तो मिलेगी कैसे ?

देखो, यह प्रकृति केवल 'सत्' है, अर्थात् इसका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त इसमें कोई गुण नहीं। इसके अनन्त रूप तुम देखते हो—कहीं यह जलती हुई आग है तो कहीं बहता हुआ पानी; कहीं झूमते हुए वृक्ष हैं तो कहीं मुस्कराते हुए फूल; कहीं गर्जते हुए जलप्रपात हैं तो कहीं उफनते हुए समुद्र; कहीं मस्तीभरी आँखें हैं तो कहीं बादल की घटा-सरीखी काली-काली अलकावली; कहीं युवावस्था की मस्तियाँ हैं तो कहीं बचपन की निरीहता; कहीं खनखनाता धन है तो कहीं चमकती हुई सम्पत्ति। ये सब प्रकृति के रूप हैं। परन्तु ये सब उस शक्ति के ही कारण अस्तित्व में आए हैं जो प्रकृति नहीं, अपितु परमात्मा है।

और यह जो 'आत्मा' है यह 'सत्' और 'चित्' है। यह विद्यमान भी है, और जीता-जागता तथा अनुभवकर्ता भी है। आनन्द की, सुख की, चैन की, आनन्द और शांति की तलाश है उसको। परन्तु सुख, चैन और शांति आत्मा में है नहीं; यह तो परमात्मा में है जो 'सत्' भी है, **'चित्'** भी है, और **'आनन्द'** भी है। शांति, चैन, आनन्द चाहियें तो परमात्मा की ओर चलो, प्रकृति की ओर नहीं। प्रकृति तुम्हें कुछ दे नहीं सकती।

मेरी कई बेटियाँ यहाँ बैठी हैं। उन्हें यदि 'स्वैटर' बुनना हो तो धागा लेने के लिए वे कहाँ जाती हैं ? उस दुकान पर जहाँ ऊन का धागा मिलता है। ऐसा न करके यदि वे किसी हलवाई की दुकान पर चली जायँ और कहें कि हमें इतने पौंड अमुक ऊन का धागा दे दो तो

हलवाई कहेगा, 'मेरे पास कहाँ आ गई हो, बहन ! मैं तो जलेबी बेचता हूँ; बर्फी, क़लाक़न्द, लड्डू और इमरती आदि बेचता हूँ। मेरे पास ऊन का धागा है नहीं।'

परन्तु मेरी ये बेटियाँ समझदार हैं। ऊन के लिए उस दुकान पर जाती हैं जहाँ ऊन का धागा मिलता है। वे लोग नासमझ हैं जो प्रकृति के पीछे उस सुख, चैन, आनन्द व शांति के लिए भागते फिरते हैं जो उसके पास है नहीं।

सुनो ! वह शांति, वह सुख, वह चैन, वह आनन्द तुम्हारे भीतर है। क्यों बाहर भाग रहे हो तुम ? ध्यान लगाकर देखो, तुम्हें पता चल जायगा कि जिसे तुम ढूंढते फिरते हो, वह बाहर नहीं, तुम्हारे भीतर बैठा है—

न मस्जिद से ग़रज़ मुझको, न मन्दिर से मुझे मतलब।
मुझे तो दिल की दुनिया में ख़ुदा मालूम होता है॥

यहाँ है वह, जिसे तू ढूंढ रहा है—

इस विश्वास को पैदा करके आएगा जब।
इन्द्रियों को भीतर की ओर ले-जाना है तब॥

इसको 'प्रत्याहार' कहते हैं। प्रत्याहार का अभिप्राय है—सर्वथा पीछे की ओर मुड़ जाना अर्थात् Right About Turn. अपनी इन्द्रियों से कहना कि बाहर की ओर नहीं; भीतर की ओर ध्यान दो ! कानों से कहना कि बाहर की नहीं, भीतर की पुकार सुनो ! आँखों से कहना कि बाहर नहीं, भीतर के दृश्य को देखो ! इस प्रकार सब इन्द्रियों को भीतर की ओर ले-जाने का नाम 'प्रत्याहार' है।

ये सब इन्द्रियाँ जब भीतर की ओर जाकर एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाती हैं, जब मन एकाग्र हो जाता है, तब ध्यान लगता है। तब यह महाशक्ति जागती हुई दिखाई देती है जो तुम्हारे भीतर विद्यमान है। आजकल के वैज्ञानिकों का कहना है कि एक एकड़ भूमि पर जितनी घास उगती है, उसको यदि परमाणु शक्ति में बदल दिया जाय तो वह इतनी शक्ति होगी कि संसार-भर के कारखानों को चला सके। परन्तु यह घास ऐसा नहीं कर सकती तो इस कारण कि इसकी शक्ति बिखरी

होती है। हमारे चित्त की 'वृत्तियाँ' भी यदि उस 'सत्-चित्-ग्रानन्द' प्रभु के दर्शन नहीं कर सकतीं तो इस कारण कि वे बिखरी पड़ी हैं। यदि वे एक स्थान पर केन्द्रित हो जायँ, यदि चित्त एकाग्र हो जाय, मन एकाग्र हो जाय तो प्रभु के दर्शन होंगे ग्रवश्य। यदि यह बात ग्रभी तक नहीं हुई तो इसी कारण कि चित्त की वृत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं; वे प्रकृति का ध्यान कर रही हैं, उस परम पुरुष का नहीं जो सब शक्तियों से बड़ी शक्ति है।

मन में पहला विश्वास यह होना चाहिए कि भगवान् है, वह हमारे भीतर है, उसको देखने के लिए मेरी इन्द्रियों को सर्वथा पीछे की ग्रोर मुड़ना होगा; 'राइट ग्रबाउट टर्न' (Right About Turn) करना होगा; बाहर की ग्रोर न देखकर भीतर की ग्रोर ध्यान लगाना होगा; ग्राँखों को भीतर की ग्रोर देखना होगा; कानों को भीतर की पुकार को सुनना होगा। ये इन्द्रियाँ, जो चंचलता की ग्रोर जा रही हैं, इन्हें दूसरी ग्रोर मोड़ना होगा। यदि ये पश्चिम की ग्रोर जा रही हैं तो इन्हें पूर्व की ग्रोर मोड़ना होगा। पूर्व की ग्रोर जा रही हैं तो इन्हें पश्चिम की ग्रोर मोड़ना होगा। यदि हम ऐसा कर लें, इन इन्द्रियों को मन में ग्रौर मन को आत्मा में केन्द्रित कर लें, भगवान् का ध्यान करें—

बैठे रहें तसव्वुरे-जानाँ किये हुए

तो एक ग्रद्भुत प्रकार की शक्ति उत्पन्न होगी। इसमें कितनी सुन्दरता है, कितना प्यार, कितना प्रकाश, कितना ग्रानन्द है, यह कोई कह नहीं सकता। ग्रात्मा में बल ग्रा जाय तो ऐसी बातें ग्रनुभव होती ग्रौर दिखाई देती हैं कि जिनका न कोई वर्णन कर सकता है ग्रौर न जिन्हें भूल सकता है। परन्तु ग्रात्मा का यह बल बढ़ता है ध्यान में खो जाने से। इससे ग्रधिक बड़ी शक्ति, इससे ग्रधिक बड़ा बल दूसरा है नहीं!

कई लोग कहते हैं कि 'यह बहुत कठिन विधि है। कोई सरल विधि या उपाय बताइये!' तो सरल उपाय भी सुनो भाई! सरल उपाय के लिए पाँच बातें ग्रावश्यक हैं—सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, ग्रात्मसंयम ग्रौर साधना।

इनमें से 'सत्संग' वह है जो हम कर रहे हैं। तुलसी जी कहते हैं—

तुलसी संगत साधु की, आध घड़ी सों आध।
नाशै निश्चय ही, भले जन्म-जन्म अपराध॥

थोड़ी देर का भी सत्संग पापों का नाश कर देता है। आप यहाँ आए, मैं यहाँ बोल रहा हूँ। कम-से-कम एक घंटे तक तो आप खोटे और ओछे विचारों से बचते हैं। सत्संग बहुत आवश्यक है, बहुत लाभदायक भी। कल एक सज्जन मिले। मैंने उनसे कहा, 'आप सत्संग में क्यों नहीं आते हो ?' वे बोले, 'अतिथि आ गए थे।' मैंने कहा, 'तुम उन्हें भी साथ लेते आना। सत्संग तो अमृत है। स्वयं पीते हो और अपने अतिथियों को इससे वंचित रखते हो, यह भला कैसा आतिथ्य है ? सत्संग के अमृत को तो स्वयं भी पीओ, दूसरों को भी पिलाओ।'

इसके पश्चात् दूसरा आवश्यक कार्य है 'स्वाध्याय' अर्थात् अच्छे ग्रन्थ पढ़ना। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, गीता, महाभारत, रामायण के उत्तम अंश पढ़ना; ऐसे ही दूसरे ग्रन्थों को देखना; उनपर विचार करना। परन्तु इसके साथ ही स्वाध्याय का अर्थ 'अपने-आपको पढ़ना' भी है; अर्थात् यह देखना कि मेरे सूक्ष्म शरीर में क्या-कुछ लिखा जा चुका है; जन्म-जन्मान्तरों में जो कर्म, अकर्म, विकर्म, कुकर्म मैंने किये हैं, वे क्या-क्या हैं; यह देखना कि आज उसमें क्या-कुछ लिखा गया है। इसको कहते हैं 'आत्म-निरीक्षण'—अपने-आपको देखना। यदि कोई अच्छा काम आज हुआ है तो प्रभु का धन्यवाद करना कि प्रभो ! स्वामिन् ! पुरुषोत्तम ! आज तेरी कृपा से मैं अमुक कार्य अच्छा कर पाया। यदि कोई बुरा काम हुआ है तो प्रभु से क्षमा की प्रार्थना करना; उससे कहना, 'मुझे भविष्य में ऐसे बुरे काम से बचा। मैं वचन देता हूँ कि मैं अमुक बुरा काम करूँगा नहीं।' यह है 'स्वाध्याय'—प्रतिदिन अपने-आपको देखना। जो लोग ऐसा स्वाध्याय नहीं करते, उन्हें भी एक दिन यह स्वाध्याय करना पड़ता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर एक ग्रन्थ-सा बन जाता है। इसका एक-एक पन्ना खुलने लगता है।

एक पन्ने पर लिखा है, 'तुमने अमुक साधु सज्जन व्यक्ति को अमुक प्रकार से धोखा दिया।'

होती है। हमारे चित्त की 'वृत्तियाँ' भी यदि उस 'सत्-चित्-आनन्द' प्रभु के दर्शन नहीं कर सकतीं तो इस कारण कि वे बिखरी पड़ी हैं। यदि वे एक स्थान पर केन्द्रित हो जायँ, यदि चित्त एकाग्र हो जाय, मन एकाग्र हो जाय तो प्रभु के दर्शन होंगे अवश्य। यदि यह बात अभी तक नहीं हुई तो इसी कारण कि चित्त की वृत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं; वे प्रकृति का ध्यान कर रही हैं, उस परम पुरुष का नहीं जो सब शक्तियों से बड़ी शक्ति है।

मन में पहला विश्वास यह होना चाहिए कि भगवान् है, वह हमारे भीतर है, उसको देखने के लिए मेरी इन्द्रियों को सर्वथा पीछे की ओर मुड़ना होगा; 'राइट अबाउट टर्न' (Right About Turn) करना होगा; बाहर की ओर न देखकर भीतर की ओर ध्यान लगाना होगा; आँखों को भीतर की ओर देखना होगा; कानों को भीतर की पुकार को सुनना होगा। ये इन्द्रियाँ, जो चंचलता की ओर जा रही हैं, इन्हें दूसरी ओर मोड़ना होगा। यदि ये पश्चिम की ओर जा रही हैं तो इन्हें पूर्व की ओर मोड़ना होगा। पूर्व की ओर जा रही हैं तो इन्हें पश्चिम की ओर मोड़ना होगा। यदि हम ऐसा कर लें, इन इन्द्रियों को मन में और मन को आत्मा में केन्द्रित कर लें, भगवान् का ध्यान करें—

बैठे रहें तसव्वुरे-जानाँ किये हुए

तो एक अद्भुत प्रकार की शक्ति उत्पन्न होगी। इसमें कितनी सुन्दरता है, कितना प्यार, कितना प्रकाश, कितना आनन्द है, यह कोई कह नहीं सकता। आत्मा में बल आ जाय तो ऐसी बातें अनुभव होती और दिखाई देती हैं कि जिनका न कोई वर्णन कर सकता है और न जिन्हें भूल सकता है। परन्तु आत्मा का यह बल बढ़ता है ध्यान में खो जाने से। इससे अधिक बड़ी शक्ति, इससे अधिक बड़ा बल दूसरा है नहीं!

कई लोग कहते हैं कि 'यह बहुत कठिन विधि है। कोई सरल विधि या उपाय बताइये!' तो सरल उपाय भी सुनो भाई! सरल उपाय के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, आत्मसंयम और साधना।

इनमें से 'सत्संग' वह है जो हम कर रहे हैं। तुलसी जी कहते हैं—

तुलसी संगत साधु की, आध घड़ी सों आध।
नाशै निश्चय ही, भले जन्म-जन्म अपराध॥

थोड़ी देर का भी सत्संग पापों का नाश कर देता है। आप यहाँ आए, मैं यहाँ बोल रहा हूँ। कम-से-कम एक घंटे तक तो आप खोटे और ओछे विचारों से बचते हैं। सत्संग बहुत आवश्यक है, बहुत लाभ-दायक भी। कल एक सज्जन मिले। मैंने उनसे कहा, 'आप सत्संग में क्यों नहीं आते हो ?' वे बोले, 'अतिथि आ गए थे।' मैंने कहा, 'तुम उन्हें भी साथ लेते आना। सत्संग तो अमृत है। स्वयं पीते हो और अपने अतिथियों को इससे वंचित रखते हो, यह भला कैसा आतिथ्य है ? सत्संग के अमृत को तो स्वयं भी पीओ, दूसरों को भी पिलाओ।'

इसके पश्चात् दूसरा आवश्यक कार्य है 'स्वाध्याय' अर्थात् अच्छे ग्रन्थ पढ़ना। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, गीता, महाभारत, रामायण के उत्तम अंश पढ़ना; ऐसे ही दूसरे ग्रन्थों को देखना; उनपर विचार करना। परन्तु इसके साथ ही स्वाध्याय का अर्थ 'अपने-आपको पढ़ना' भी है; अर्थात् यह देखना कि मेरे सूक्ष्म शरीर में क्या-कुछ लिखा जा चुका है; जन्म-जन्मान्तरों में जो कर्म, अकर्म, विकर्म, कुकर्म मैंने किये हैं, वे क्या-क्या हैं; यह देखना कि आज उसमें क्या-कुछ लिखा गया है। इसको कहते हैं 'आत्म-निरीक्षण'—अपने-आपको देखना। यदि कोई अच्छा काम आज हुआ है तो प्रभु का धन्यवाद करना कि प्रभो ! स्वामिन् ! पुरुषोत्तम ! आज तेरी कृपा से मैं अमुक कार्य अच्छा कर पाया। यदि कोई बुरा काम हुआ है तो प्रभु से क्षमा की प्रार्थना करना; उससे कहना, 'मुझे भविष्य में ऐसे बुरे काम से बचा। मैं वचन देता हूँ कि मैं अमुक बुरा काम करूँगा नहीं।' यह है 'स्वाध्याय'—प्रतिदिन अपने-आपको देखना। जो लोग ऐसा स्वाध्याय नहीं करते, उन्हें भी एक दिन यह स्वाध्याय करना पड़ता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर एक ग्रन्थ-सा बन जाता है। इसका एक-एक पन्ना खुलने लगता है।

एक पन्ने पर लिखा है, 'तुमने अमुक साधु सज्जन व्यक्ति को अमुक प्रकार से धोखा दिया।'

दूसरे पन्ने पर लिखा है, 'तुमने अमुक समय पर झूठ बोला।'

तीसरे पन्ने पर लिखा है, 'तुमने अमुक विधवा, अमुक अनाथ के अधिकार को मार लिया।'

चौथे पन्ने पर लिखा है, 'तुम्हारा अमुक कार्य देशद्रोह है।'

पाँचवें पन्ने पर लिखा है, 'तुमने मज़हब के ढकोसले की आड़ में मनुष्य को मनुष्य से लड़ाया।'

छठे पन्ने पर लिखा है, 'तुमने देखते हुए भी ग़रीबों और असहायों की सहायता नहीं की।'

सातवें पन्ने पर लिखा है, 'तुमने शक्ति होने पर भी दुःखियों और पीड़ितों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया।'

ऐसी ही दूसरी बातें भी लिखी हैं, और अन्त में लिखा है, 'तुम्हें मनुष्य-शरीर छोड़कर बिच्छू के शरीर में आना होगा; बिच्छू बनकर रहना होगा।'

तब यह आदमी रोता है। लोग इसको 'नीर बहाना' कहते हैं, परन्तु ये पश्चात्ताप के आँसू हैं जो मृत्यु के समय काम नहीं आते।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

'अच्छा हो या बुरा, कोई भी जो काम आपने किया है, उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा।'

परन्तु प्रतिदिन अपने-आपको पढ़ो; अपने सूक्ष्म शरीर को देखो तो सम्भव है ऐसी दशा उत्पन्न ही न हो। इसके लिए स्वाध्याय आवश्यक है।

तीसरी आवश्यक बात है 'सेवा'। धन है तो धन से निर्धनों, दुःखियों, अनाथों की सेवा करो! स्कूल खोलो! अस्पताल खोलो! कुएँ बनवाओ! देखो कि समाज में किस-किस स्थान पर किस-किस बात की कमी है, उसको पूरा करने का यत्न करो! तुम्हारा तन ठीक है तो तन से दूसरों की सेवा करो—रोगियों की, निर्बलों की, बच्चों की, बूढ़ों की। स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों को आराम पहुँचाने का प्रयत्न करो! और यदि धन नहीं है, तन भी ठीक नहीं है, तो मन से दूसरों की सेवा करो! उन्हें अच्छा और नेक मार्ग दिखाओ; सहानुभूति

श्रौर प्रेम से उन्हें समझाश्रो ! उन्हें ठीक परामर्श दो ! सत्य ज्ञान दो ! घृणा मत करो ! किसी से ईर्ष्या, द्वेष व शत्रुता की भावना से काम मत लो ! इस बात को समझो कि प्रत्येक मनुष्य हमारे समान है। तुम यदि सुख चाहते हो तो वह भी सुख चाहता है। इस प्रकार तन, मन, धन से सेवा करो।

चौथी श्रावश्यक बात है 'संयम'—श्रपने-श्रापको वश में रक्खो। ये तुम्हारी इन्द्रियाँ रथ के घोड़ों-सरीखी हैं; मन इस रथ का सारथी है। इन घोड़ों को श्रौर इस सारथी मन को श्रपनी इच्छा के श्रनुसार चलाश्रो ! श्रपने-श्रापको इनकी इच्छा पर मत छोड़ो ! श्रपना भला-बुरा सोचकर इनपर अपना शासन चलाश्रो ! अपने-श्रापको इनकी श्राज्ञाश्रों का श्रनुवर्ती (गुलाम) मत बना दो !

और पाँचवाँ श्रावश्यक कार्य है 'साधना'। २४ घंटों में से घंटे-दो-घंटे का ऐसा समय निकालो जब बौद्धिक तथा शारीरिक दृष्टि से श्रपने-श्रापको 'रिलैक्स' (Relax—ढीला) करके, संसार से कटकर, शांत-चित्त होकर बैठ जाश्रो। बाहर की श्रोर न देखकर भीतर की श्रोर देखो। यदि ३५ मिनट भी ऐसा कर लोगे तो दिनभर के श्रम श्रौर परिश्रम से हुई थकावट दूर हो जायेगी, एक नई शक्ति शरीर, मन श्रौर श्रात्मा में जाग उठेगी। इस समय किसी शान्त-एकान्त स्थान में बैठकर श्रपने शरीर को ढीला छोड़ दो; श्राराम से बैठ जाश्रो; मन को शान्त कर लो; कोई बुरा विचार, कोई चिन्ता, व्यापार का विचार, घर, परिवार, मित्र-बन्धु का, कार्यालय का विचार श्राए तो उससे कहो, 'परे चले जाश्रो ! निकल जाश्रो यहाँ से ! यह समय तुम्हारे लिए नहीं है; यह मेरे श्रपने-श्रापके लिए है—इस श्रपने-श्रापके लिए, जो संसार से, समाज से, घर से, परिवार से, कार्यालय से, व्यापार से, प्रत्येक वस्तु से श्रलग है। श्रंग्रेज़ी में इसे 'श्रॉटो सजेश्शन' (Auto-Suggestion) कहते हैं, श्रर्थात् श्रपने-श्रापको समझाना।

इस प्रकार प्रतिदिन करो तो श्रात्मबल मिलेगा। श्रौर जब शारीरिक बल, मानसिक बल तथा श्रात्मिक बल मिल जायँ तो फिर भोगो इस संसार को। वेद तुम्हें श्राज्ञा देता है—**'भुंजीथाः'**। परन्तु भोगते

समय भी यह देखो कि कौन-सी वस्तु से तुम्हें लाभ होगा; कौन-सी से हानि। जिससे हानि होती है उससे दूर रहो! जिससे लाभ होता है, उसको भोगो। खाना खाओ तो देखो कि उसमें वे वस्तुएँ हों जो तुम्हें सात्विक वल दें; यह देखो कि जिस कमाई से यह भोजन वना है, वह नेक कमाई है या नहीं? वह कहीं दूसरों को दुःख देकर, कष्ट देकर, उनका खून बहाकर, उन्हें लूटकर, भाई को भाई से लड़ाकर तो प्राप्त नहीं की गई? और फिर यह भी देखो कि यह खाना वनाया किसने है? आपकी माँ, आपकी वेटी, आपकी वहन, आपकी पत्नी ने खाना वनाया है तो चैन से खाओ। कारण कि ये सब देवियाँ आपके कल्याण की कामना करती हैं। कई नौकर भी वहुत अच्छे होते हैं। खाना बनाते समय भगवान् का नाम लेते रहते हैं, 'तुलसी रामायण' की चौपाइयाँ पढ़ते रहते हैं; कवीर के या दूसरे सन्तों के दोहे पढ़ते रहते हैं। परन्तु कई नौकर बुरे भी होते हैं; काम कम करते हैं, सिनेमा अधिक देखते हैं। वे खाना बनाते हैं फ़िल्मों के गीत गाते हुए, 'बोल राधा बोल, संगम होगा कि नहीं?' अव इसका संगम हो-न-हो, खाना खानेवाले का बुरे विचारों से संगम अवश्य हो जायेगा।

इन सब बातों का ध्यान रखकर भोगो इस संसार को। यह तुम्हारे भोगने के हेतु बना है। यह मन्द-सुगन्ध शीतल पवन, यह छम-छम बरसती वर्षा, ये गर्जते वादल, ये घनघोर घटाएँ, यह उफनता हुआ सागर, यह तपता हुआ सूर्य, ये लहराते खेत, ये झूमते हुए बाग़, नाना भाँति की सब्ज़ियाँ, फल और अनाज—भगवान् ने ये सब तुम्हारे लिए बनाए हैं। इनसे मुँह मोड़कर मत बैठ जाओ। परन्तु वेद जहाँ कहता है—**'भुंजीथाः'**—भोगो, वहाँ यह भी कहता है कि **'त्यक्तेन भुंजीथाः'**—'त्यागपूर्वक भोग करो'। इससे पूर्व इसी वेद-मन्त्र में एक दूसरा शब्द आता है—**'जगत्यां जगत्।'** जगत् कहते हैं इस संसार को। 'जगत्' का शब्दार्थ है चलनेवाला—**गच्छति इति जगत्**—जो चलता है, लगातार चलता ही रहता है, वह जगत् है। लगातार चलते रहना, लगातार बदलते रहना, यह इस जगत् का गुण है। यहाँ प्रत्येक वस्तु चलती है; प्रत्येक वस्तु बदलती है; जो भी यहाँ आया, उसको चलना अवश्य है।

आप यहाँ बैठे हैं न, बैठे हुए भी आप चल रहे हैं; कारण कि आप बैठे हैं इस पृथिवी पर और यह पृथिवी एक तो घूमती है अपने ही अक्ष पर एक हज़ार मील प्रति घण्टे की चाल से, और फिर यह घूमती है सूर्य के चारों ओर ६६ हज़ार मील प्रति घंटे की चाल से। एक घंटा पूर्व जिस स्थान पर यह पृथिवी थी, वहाँ अब नहीं है; वहाँ से ६६ हज़ार मील आगे आ गई है। परन्तु पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो सूर्य भी किसी के चारों ओर घूमता है—इस ब्रह्माण्ड, इस केन्द्र के चारों ओर कि जिसका यह सौर-मण्डल केवल एक अंश है। इसके अतिरिक्त डेढ़ अरब सूर्यमण्डल इस ब्रह्माण्ड में और भी हैं और सब अपने-अपने केन्द्र के चारों ओर घूम रहे हैं। हमारा सूर्य भी अपने सभी ग्रहों को, सारे सौर-मण्डल को साथ लेकर घूम रहा है। प्रत्येक घण्टे में ४० हज़ार मील वह चलता है। फिर डेढ़ अरब सौर-मण्डलों का यह ब्रह्माण्ड ही तो संसार नहीं है ! ऐसे खरबों ब्रह्माण्ड हैं संसार में। ये सब-के-सब भाग रहे हैं। हमारा ब्रह्माण्ड भी भाग रहा है। किसके चारों ओर ? किस गति से ?—यह अभी तक वैज्ञानिकों को पता नहीं लगा।

तब आप जो पिछले एक घंटे से यहाँ बैठे हैं, बैठे कैसे हैं ? आप तो हज़ारों मील चल चुके, इस स्थान से हज़ारों मील इधर आगे, जहाँ आप एक घण्टा पूर्व थे।

'जगत्' का अर्थ ही चलनेवाला है, बदलनेवाला। आप यहाँ बैठे हैं; परन्तु आपके शरीर के भीतर आपकी नसें हैं, नाड़ियाँ हैं, उपनाड़ियाँ हैं, इनकी समष्टि रूप से लम्बाई सैकड़ों मील है। आपका रक्त दौड़ रहा है; प्रत्येक साढ़े बाइस सैकंड में इन सैकड़ों मील लम्बी नाड़ियों में से होकर यह रक्त आपके हृदय में पहुंचता है; शुद्ध हो जाता है; फिर लौट जाता है। आप यहाँ बैठे हैं परन्तु आपके भीतर शरीर के नये 'सैल' (Cells) बन रहे हैं, पुराने समाप्त हो रहे हैं। नया जीवन बन रहा है, पुराना नष्ट हो रहा है। तब बैठा क्या है ? बैठा कौन है ?

नहीं भाई, यह जगत् चलायमान है। यहाँ प्रत्येक वस्तु चलती है, लगातार चलती रहती है। बनती है, मिटती है, फिर बनती है। यहाँ

पर कुछ भी 'स्थिर' नहीं—सदा रहनेवाला नहीं है। इस असार संसार में 'परिवर्तन', लगातार चलना, लगातार बदलना ही एक सार है।

[तभी आकाश में बादल गर्ज उठे; कुछ बूंदें गिरीं; कुछ लोग उठने लगे। पूज्य स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—'यह वर्षा आ रही है। परन्तु अभी तो मैं (कथा) समाप्त नहीं कर सकता; अभी तो पन्द्रह मिनट शेष हैं। परन्तु आप लोग घबराते किस कारण हैं? आप बताशे तो हैं नहीं कि पानी में भीगने पर आपका शर्बत बन जाएगा। पानी गिरे या आँधी आए, आराम से बैठे रहो।' और स्वामी जी कहते रहे—]

यह संसार गतिमान् है; चल रहा है, बदल रहा है।

और यह मानव! यह भी तो चल रहा है! इसको भी परिवर्तन चाहिये। जिसके पास धन है, वह तो कहता है कि निर्धन सुखी है। जो निर्धन है, वह कहता है कि धनी सुखी है। जिनके यहाँ बच्चे हैं, वे कहते हैं कि 'फ़ैमिली प्लानिंग अच्छी बात है', और जिनके यहाँ भगवान् ने ही 'फ़ैमिली प्लानिंग' (परिवार-नियोजन) कर दिया है, वे बच्चों के लिए पागल हुए फिरते हैं। सर्दी हो तो मनुष्य कहता है गर्मी होनी चाहिये। गर्मी हो तो सर्दी ढूँढता फिरता है। वर्षा हो तो कहता है 'बन्द हो जाय तो अच्छा है' और वर्षा न हो तो कहता है 'भगवान्, वर्षा कर दे!' तरी में उसको ख़ुश्की याद आती है; ख़ुश्की में तरी। घर के भीतर सब खाना खाने बैठे। सब सब्ज़ियाँ नमकीन हैं तो बाबू जी कहते हैं, 'क्यों भागवान! तेरे घर चीनी चुक गई है?' (तेरे घर में चीनी नहीं रही क्या?) और यदि सब भोजन पदार्थ मीठे-ही-मीठे हों तो बाबू जी कहते हैं, 'ऐह की होया? रोज़ मिठा-ही मिठा!' (यह क्या हुआ, प्रतिदिन मीठा-ही-मीठा!) अद्भुत प्राणी बनाया है भगवान् ने यह मनुष्य! इसको किसी बात से चैन नहीं मिलता। इसी हेतु भगवान् ने प्रत्येक प्रकार के पदार्थ बना दिये हैं, प्रत्येक प्रकार की ऋतु, प्रत्येक प्रकार की दशाएँ, परन्तु सब बदलती हुईं, सब चलती हुईं। मनुष्य को यह समझाने के लिए कि तुम यहाँ इस पृथिवी पर आए हो तो यहाँ सदा रहने के लिए नहीं। तुम यात्री हो; यात्रा पूरी

करने के पश्चात् तुम्हें यहाँ से जाना है। और कहाँ जाना है ? वहीं अपने घर में, जहाँ से तुम आए हो।

प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥

यह मन्त्र विज्ञान के उस रहस्य को प्रकट करता है जिसको यूरोप तथा अमेरिका के वैज्ञानिक सैकड़ों बरसों की खोज के पश्चात् अब जान पाए हैं। इन वैज्ञानिकों का कहना है कि सूर्य से जो प्रकाश पृथिवी पर आता है उसके साथ 'आयन्स' (Ions) पृथिवी पर आते हैं। ये 'आयन्स' (Ions) ही इस पृथिवी पर के प्रत्येक जीवन का मूल कारण हैं।

और यह मन्त्र क्या कहता है ? सूर्यलोक से वह 'तेज' अर्थात् नूर तेज़ी के साथ पृथिवी पर आता है; वायु में विलीन होकर वह इस सारी पृथिवी पर छा जाता है। वह माता सरीखा है, अर्थात् जो इस तेज अथवा नूर को अपने भीतर धारण करके इसके जीते-जागते लोगों, जीती-जागती वस्तुओं में परिवर्तित कर देती है।

परन्तु इस मंत्र के जिस अंश की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह है 'अनु मातरं पृथिवीम्'। यह पृथिवी तुम्हारी माता है; इसने तुम्हें जन्म दिया है; अब चलो इस माँ की गोद में। आगे बढ़ो ! ऊँचे उठो ! परन्तु यह सब है किसलिए ?

'वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि'—लौटकर जाने के लिए उस स्वर्ग में, उस प्रकाश में, उस मुक्तावस्था में, उस ब्रह्मलोक में जाने के लिए जहाँ से तुम आये हो।

हम इस पृथिवी के निवासी नहीं हैं; ब्रह्मलोक के निवासी हैं। हमारा घर वह है; यह नहीं। हमारा देश वह है; पृथिवी नहीं। और देखो, जिस देश का कोई रहनेवाला होता है, वह उसी देश का झण्डा अपने घर में रखता है न ? अपने मकान पर लहराता है न ? दिल्ली में कई देशों के राजदूत हैं। प्रत्येक राजदूत के कार्यालय पर, उसकी कोठी पर, उसके देश का झण्डा लगा है। हमको भी अपने देश का झण्डा लहराना चाहिये। यह झण्डा है 'ओ३म्' के नाम का, ईश्वर के

नाम का, उस प्रभु के नाम का जो हमारा वास्तविक स्वामी है, वास्तविक धाम है, वास्तविक घर है।

और फिर इसी मन्त्र में कहा—**'प्र दैवोदासो'**—कैसे रहो इस संसार में ? 'देवों के दास बनकर, उस परमप्रभु को अपना स्वामी समझकर।' उसकी इच्छा के अनुसार, उसकी आज्ञा के अनुवर्ती रहो। और फिर अग्नि के समान बनो—उस अग्नि के समान, जिसमें सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं, जिसमें सारा कूड़ा-कर्कट भस्म हो जाता है और जो सदा ऊपर की ओर जाती है। आग की लपटों को आपने कभी नीचे की ओर जाते देखा है ? पानी नीचे की ओर बहता है; मिट्टी ऊपर से नीचे गिरती है। वायु कभी नीचे जाती है, कभी ऊपर; कभी दाईं ओर, कभी बाईं ओर। परन्तु यह अग्नि सदा ऊपर की ओर जाती है; तुम भी ऊपर की ओर चलो। इस संसार में आए हो तो इस प्रकार रहो कि इसके पश्चात् संसार तुम्हें अधिक सुख, शान्ति और आनन्द देनेवाला हो। नेक कमाई करो, बुरी कमाई नहीं। पुण्यों का संचय करो, पापों का नहीं।

और फिर यह संसार है न ? यह खेल का मैदान—क्रीड़ांगन है। खेल में चोट लग जाय तो रो मत, किसी ने कड़वी बात कह दी तो उससे लड़ो नहीं। रक्त बह निकले तो कहते हैं, 'ऐसा होता ही है।' खेल में हार भी होती है, जीत भी। दोनों से निष्काम होकर इस खेल को खेल, और इस विश्वास के साथ खेल कि यह तुम्हारा घर नहीं है, तुम्हारा घर कहीं दूसरे स्थान पर है। वहाँ जाना है तुम्हें—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गो भाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥

'नाश होनेवाले पत्ते के समान चञ्चल इस संसार में ऐ संसार के लोगो, तुम्हारी दशा उस वृक्ष के समान है जो किसी भी समय गिर जाएगा।' 'नदी-किनारे का रूखड़ा' हो तुम। कौन जाने कब पानी का रेला आय और बहाकर ले-जाय ! इसलिए जबतक इस संसार में हो, तबतक उस परमपुरुष का स्मरण करते हुए, उसकी प्रार्थना-उपासना करते हुए, उसकी आज्ञा का पालन करते हुए इस संसार को भोगो।

यह जीवन थोड़े दिन का है। इसमें पुण्यों का संचय करो, पापों का नहीं। भगवान् का नाम लो, उसको स्मरण करो कि जिसके पास जाना है। अपने घर को याद करो कि जहाँ पहुँचना है। संसार का यह जीवन तो वृक्ष पर लगे पत्ते के समान नाश होनेवाला है। किसी तोते ने चोंच मारी तो गिर गया। हवा का तेज़ झोंका आया तो गिर गया। यह तो क्षणभंगुर, क्षण-भर में समाप्त होनेवाला जीवन है—

क्षणभंगुर जीवन की कलिका,
कल प्रात को जाने खिले-न-खिले।
मलयाचल की शुचि, शीतल, मन्द,
सुगन्ध समीर मिले-न-मिले।
कोऊ काल कुठार लिये फिरता,
तन नम्र है चोट झले-न-झले।
कह ले हरिनाम मेरी रसना,
फिर अन्त समय यह मिले-न-मिले।

'पलभर में मुर्झानेवाली यह जीवन-की कली, कौन जाने, प्रातः खिलेगी या नहीं! मलय पर्वत से आनेवाली पवित्र, शीतल, सुगन्ध से भरपूर मन्द पवन मिले या न मिले! यह काल-राक्षस अपने हाथ में कुल्हाड़ा लिये घूमता है; तन निर्बल है, कौन जाने चोट झेल सके या न झेल सके! हे मेरी जिह्वा! भगवान् का नाम ले, कौन जाने अन्त में समय मिले या न मिले!'

अरे, किस बात का अभिमान करते हो? आदमी गया होटल में; माँगा चाय का प्याला; परन्तु इससे पहले कि चाय का प्याला आता, 'राम नाम सत्य' हो गया। आदमी चला दफ़्तर को बहुत-कुछ सोचकर कि आज यह करना है, वह करना है; सड़क पर आ रही थी मोटर; उसकी लपेट में आया और 'ओं शांतिः शांतिः' हो गया। अरे, इस जीवन का भरोसा क्या है?

क्या भरोसा है जिन्दगानी का!
आदमी बुलबुला है पानी का।

क्या जाने कब इस पानी में खो जायगा ! इस थोड़े-से जीवन में अच्छे काम कर लो, भाई ! कौन जाने कब यह जीवन समाप्त हो जाय ! और कभी भी समाप्त हो, अन्त में तो यहाँ से जाना है; यह संसार तो सराय है; इसको घर क्यों समझ बैठे हो ?

एक महात्मा थे। एक नगर में गए तो राजा के महल पर पहुँचे। उसको देखा, उसकी चित्रकारी को, उसकी सजावट को, बनावट को; प्रसन्न होकर बोले, 'किसी ने बहुत अच्छी धर्मशाला बनवाई है ! रुपया भी बहुत खर्च किया है; परिश्रम भी किया है।'

महल के द्वार पर खड़े थे राजा के चौकीदार और सिपाही। उन्होंने कहा, 'बाबा, यह धर्मशाला नहीं, राजा का महल है।'

महात्मा बोले, 'हमें तो धर्मशाला दिखाई देती है।' और भीतर ड्योढ़ी में जाकर बैठ गए।

सन्तरियों-सिपाहियों ने फिर कहा, 'बाबा जी ! यह धर्मशाला नहीं है; धर्मशाला उधर है। चलिये, हम आपको वहाँ छोड़ आते हैं।'

महात्मा बोले, 'नहीं भाई, हम तो इसी धर्मशाला में विराजेंगे।'

राजा के अनुचरों ने भीतर जाकर राजा को सूचित किया, 'महाराज ! एक अद्भुत महात्मा आ गया है। ड्योढ़ी में बैठा है। महल को धर्मशाला कहता है। उसका क्या करें ?'

राजा स्वयं आया; बोला, 'महात्मा जी ! साधु जी ! यह धर्मशाला नहीं है; मेरा महल है।'

महात्मा ने कहा, 'कैसी बात कहते हो, राजन् ? हमें तो यह धर्मशाला दिखाई देती है।'

राजा बोले, 'नहीं बाबा जी ! यहाँ मैं रहता हूँ। धर्मशाला अलग बनवाई हुई है। चलिये, मेरे सेवक आपको वहाँ ले जायेंगे।'

महात्मा ने कहा, 'परन्तु यह भी तो धर्मशाला है ?'

राजा बोले, 'मैंने आपको बताया न ! यह मेरा महल है, यहाँ मैं रहता हूँ।'

महात्मा ने कहा, 'तो धर्मशाला किसको कहते हैं ?'

राजा बोले, 'उस स्थान को जहाँ यात्री लोग आकर ठहरते हैं;

एक दिन, दो दिन; एक सप्ताह, दो सप्ताह; कुछ लोग महीना-दो-महीने रहते हैं और फिर चले जाते हैं।'

महात्मा ने कहा, 'और आप यहाँ रहते हैं ?'

राजा बोले, 'जी हाँ, मैं यहाँ रहता हूँ।'

महात्मा जी ने कहा, 'आपसे पहले कौन रहता था ?'

राजा बोले, 'मेरे पिताजी रहते थे।'

महात्मा ने पूछा, 'वह अब कहाँ हैं ?'

राजा बोले, 'वह तो चले गये।'

महात्मा ने पूछा, 'और उनसे पहले कौन रहता था ?'

राजा ने कहा, 'मेरे दादा रहते थे।'

महात्मा ने पूछा, 'वह तो होंगे ?'

राजा ने कहा, 'नहीं; वह भी चले गए।'

महात्मा ने पूछा, 'और उनसे पहले कौन रहते थे ?'

राजा ने कहा, 'मेरे दादा के पिता, मेरे परदादा।'

महात्मा ने पूछा, 'और उनके पहले ?'

राजा ने कहा, 'मेरे परदादा के पिता।'

महात्मा ने पूछा, 'कहाँ हैं वे ?'

राजा ने कहा, 'वे तो चले गये।'

महात्मा बोले, 'अब आप रहते हो ?'

राजा बोले, 'हाँ।'

महात्मा ने पूछा, 'और आपके पश्चात् कौन रहेगा इसमें ?'

राजा बोले, 'मेरे बच्चे रहेंगे।'

महात्मा ने हँसते हुए कहा, 'फिर यह धर्मशाला नहीं तो और क्या है ? यहाँ लोग आते हैं, रहते हैं, चले जाते हैं। धर्मशाला में भी तो यही होता है !'

यह है तुम्हारे मकानों, तुम्हारी सम्पत्तियों, तुम्हारी कोठियों, तुम्हारे बँगलों, तुम्हारे महलों की हैसियत और इस संसार की हैसियत, जिसमें तुम थोड़ी देर के लिए आये हो। ये सब सरायें हैं; यह संसार भी सराय है। सराय को यदि अपना घर समझकर बैठ गए

हो तो यह अनुचित बात है। यहाँ कभी कोई सदा रहा नहीं। तुम भी रहोगे नहीं। यह तो कुछ दिन विताने का स्थान है—

दुनिया में जीस्त इससे जियादः नहीं कुछ और,
कुछ रोज हैं गुजारे, कुछ और जो गुजरेंगे।

अरे ओ, कुछ दिनों के लिए इस सराय में आनेवालो ! अपने-आपको इसका स्वामी मत समझो। यह तो रैन-वसेरा है। रात-भर, कुछ रातें, कुछ दिन यहाँ रहोगे, फिर चले जाओगे। और कौन कब चला जाएगा, इस प्रश्न का उत्तर कौन जानता है ? शायद कुछ घंटों, कुछ मिनटों, कुछ सैकंडों के पश्चात् ही चले जाना पड़े। इसलिए जितना समय मिले, उसमें अच्छी कमाई कमा लो। यह है **'जगत्यां जगत्'** का अभिप्राय। यह चल रहा है, यह जा रहा है, वदल रहा है, यह जगत् है। परन्तु लगातार चलते-वदलते हुए जगत् में इससे भी अधिक जगत्—चलनेवाला, वदलनेवाला है यह मानव—मानव का यह शरीर। जितनी प्रगति, जितनी उन्नति इसने की है उतनी अन्य किसी प्राणी ने नहीं की।

कौए को देखिये ! भगवान् राम के युग में वह जैसे काँव-काँव करता था, वृक्षों पर बने दूसरों के घोंसलों में रहता था, वैसे ही अब भी करता है। लाखों वर्ष वीत गए, कौआ ज्यों-का-त्यों है। चिड़ियाँ भी वैसे ही चहचहाती हैं। इनकी न बोली बदली है, न रंग, न कुछ और। गधे आज भी वैसे ही हींसते हैं जैसे लाखों वर्ष पहले। कहते हैं कि बन्दरों का एक बार सम्मेलन इस प्रयोजन से बुलाया गया कि हम भी बदलें, परन्तु वे बन्दर-के-बन्दर ही रहे। कहते हैं कि कुत्तों का भी एक बार सम्मेलन हुआ था। प्रत्येक नस्ल, प्रत्येक क्वालिटी, प्रत्येक रंग, प्रत्येक क़द के कुत्ते उसमें सम्मिलिए हुए। कुत्तों की प्रशंसा में बड़े-बड़े प्रभावशाली भाषण हुए। कहा गया, 'हमसे अधिक स्वामि-भक्त प्राणी संसार में दूसरा कोई है नहीं। हम भूखे रहकर भी स्वामी की भक्ति करते हैं। प्यासे रहकर भी इसके आने पर पूँछ हिलाते हैं। हमसे अधिक स्वामिभक्त कौन है ?' कई दूसरे कुत्तों ने कहा, 'परन्तु यह सब होते हुए भी मनुष्य हमें घृणा की दृष्टि से देखता है; जिसको

गाली देनी होती है, उसको 'कुत्ता' कहता है। इसका क्या करें ?' एक बूढ़े कुत्ते ने कहा, 'सुनो भाइयो ! अपनी विशेषताओं का वर्णन हमने कर दिया। परन्तु मनुष्य हमें घृणा की दृष्टि से देखता है तो इस कारण कि हमारे में एक बुराई भी है। हम अपने जाति-भाइयों से लड़ते बहुत हैं। प्रत्येक कुत्ता दूसरे कुत्ते का वैरी है। यदि हम आपस में लड़ना बन्द कर दें तो मनुष्य हमसे घृणा नहीं करेगा; वह हमारा सम्मान करेगा।'

सब कुत्तों ने कहा, 'ठीक है, ठीक है ! हम आपस में नहीं लड़ेंगे।'

प्रस्ताव उपस्थित हुआ; सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया कि 'हम कुत्ते आपस में नहीं लड़ेंगे।'

समीप ही एक वृक्ष था। उसके ऊपर बैठा था एक कौवा। उसने यह सब-कुछ सुना तो मन-ही-मन बोला—'पागल हैं ये ! कुत्ता कुत्ते से न लड़े, यह कैसे सम्भव है ? मैं अभी देखता हूँ।'

और वह वृक्ष पर से उड़कर एक कसाई की दुकान पर पहुँच गया। वहाँ से वह मांस का एक टुकड़ा उठा लाया और उसने वह टुकड़ा वहाँ फेंक दिया जहाँ सब कुत्ते इकट्ठे थे। उस टुकड़े को देखते ही सब कुत्ते उसपर झपटे। सबने एक-दूसरे को लहूलुहान कर दिया। वह घमासान युद्ध हुआ कि पूछो मत ! उनका प्रस्ताव धरा-का-धरा ही रह गया !

परन्तु मानव ने जो उन्नति की है, उसको कौन भूल सकता है ! यह दिल्ली है न ! यहाँ कभी मुग़लों का शासन था। मुग़ल बादशाह यहाँ रहते थे। उनके महलों में सैकड़ों दीये जलाने पर जितना प्रकाश होता था, उतना अब एक निर्धन के घर में बिजली की बत्ती का बटन दबाने से हो जाता है। उस समय के लोग यदि आज की दिल्ली को देखें तो शायद अचेतन, बेहोश होकर गिर जायँ। रेलगाड़ियाँ दौड़ रही हैं; मोटरें दौड़ रही हैं; बसें दौड़ रही हैं; स्कूटर दौड़ रहे हैं। अब बैलों से चलनेवाले रथ नहीं रहे। नवाबों और अमीरों के आने-जाने की पालकियाँ नहीं हैं। वायुयान उड़ते हैं। एक घंटे में सैकड़ों मील दूर चले जाते हैं। उस समय ठंडा पानी केवल बादशाहों को गर्मियों

में मिलता था। काबुल से ऊँटों का कारवाँ चलता था पहाड़ी बर्फ़ को लेकर। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते नब्बे प्रतिशत बर्फ़ गल जाती थी; कभी इससे अधिक भी। इस शेष बची बर्फ़ से बादशाह सलामत के लिए शर्बत ठंडा रक्खा जाता था। परन्तु आज तो आपके घर का भंगी भी गर्मियों में मुग़ल बादशाहों से अधिक ठंडा पानी पीता है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ तो हँसी आती है कि यदि अकबर, जहाँगीर या शाहजहाँ आज लौट आयें, रेडियो पर होते कार्यक्रम सुनें, किसी घर में टेलिविज़न देख लें तो उनकी क्या दशा होगी ? सम्भव है वे बेहोश होकर गिर पड़ेंगे। समझेंगे कि दिल्ली में या तो भूत-प्रेत आ गए हैं, अथवा हम ही पागल हो गए हैं।

इस प्रकार मनुष्य आगे बढ़ा है; चाँद तक जा पहुँचा है। परन्तु इससे होगा क्या, यह तो पीछे देखा जाएगा; परन्तु पहुँचा तो है।

आज से दो हज़ार वर्ष पहले यूरोप के बहुत बड़े भाग के निवासी नंगे रहते थे; जानवरों की खाल उनका पहनावा था। कपड़ा क्या होता है, यह वे जानते तक नहीं थे। मकान बनाना भी नहीं जानते थे। और अब कहाँ-से-कहाँ पहुँच गये हैं ये लोग ! गत वर्ष मैं लन्दन गया। उसको देखा—कितना विशाल नगर है ! लगभग एक करोड़ लोग उसमें रहते हैं। इतना साफ़-सुथरा, सर्वथा सुव्यवस्थित। नगर बड़ा है परन्तु लोगों के मकान छोटे-छोटे हैं। यह आपका हॉल है न, इस मन्दिर का हॉल, इतने स्थान पर लन्दन में कम-से-कम बीस मकान बना दिये जाते हैं। कम-से-कम चालीस परिवार उनमें रहते हैं।

लाहौर में पंजाब गवर्नमेंट के एक सैक्रेटरी थे। मैं लन्दन गया तो एक दिन बाज़ार में उन्हें देखा; और उन्होंने मुझे; दोनों ने पहचाना एक-दूसरे को। वह बोले, 'हमारे घर चलो।' मैं तैयार हो गया। लाहौर में उनकी बहुत बड़ी कोठी थी। उसके साथ बहुत खुला हरियाला मैदान। कई नौकर थे; कई बैरे। मैंने सोचा, लंदन में भी ये महोदय किसी ऐसे ही स्थान में रहते होंगे। परन्तु इनके घर जाकर यह देखा कि एक छोटा-सा मकान है। मकान के सामने कोई दस फुट चौड़ा, इतना ही लम्बा आँगन है; और बस। घर में कोई नौकर-चाकर

भी नहीं। पता लगा कि उनकी पत्नी प्रातः उठकर न केवल सारा मकान बुहारती है, अपितु घर के सामने की सड़क भी। कारण कि प्रत्येक मकानवाले के लिए यह आवश्यक है कि अपने मकान के सामने की सड़क को साफ़ रक्खे।

मैंने कहा, 'मेरे भाई, लाहौर में तो आपकी कोठी बहुत बड़ी थी ?'

वह बोले, 'लाहौर की बातें लाहौर में रह गईं ! यह लन्दन है। यहाँ लोग ऐसे ही छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं।'

ये मकान बाहर से बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं; भीतर जाओ तो, बस, कबूतरखाना !

इस प्रकार यूरोप के लोग बदले हैं। अँगरेज़ बदले हैं। प्रत्येक मनुष्य बदला है। हम भी तो बदले हैं ! ये जो फ़ैशन आज आपको दिखाई देते हैं—कपड़े के, बालों के, जूतों के, मकानों के, दुकानों के, ये पहले कहाँ थे ! और ये पिचके हुए गाल, भीतर घँसी हुई आँखें, ये आँखों पर लगी हुई ऐनकें, ये बनावटी दाँत, और नक़ली बाल कहाँ थे ! अब तो सुना है कि नक़ली नाक भी बनने लगी है। पहली नाक अच्छी नहीं लगती है तो उसको कटवाकर दूसरी लगवा लीजिये। आँखों का रंग बदलवा लीजिये; बालों का रंग बदलवा लीजिये।

यह सब-कुछ पहले कहाँ था ! और यह प्रत्येक ओर फैली हुई घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, शत्रुता, असम्मान और स्वार्थपरता की आँधियाँ कहाँ थीं ! आज मनुष्य को सबसे अधिक भय मनुष्य से है। साँप, बिच्छू, शेर, चीते, बाघ, बघेले, तेंदुए आज मनुष्य के लिए इतने भयानक नहीं हैं जितना मनुष्य है। मनुष्य आज एक ऐटम बम से हज़ारों मनुष्यों का प्राणान्त कर सकता है; एक उद्‌जन बम से कई लाख लोगों का अन्त कर सकता है। आज इसमें इतनी शक्ति है कि पाँच, छः या आठ हज़ार मील की दूरी पर बसे हुए लाखों मनुष्यों के किसी भी नगर को पलभर में तहस-नहस कर दे। आज इसके पास इतने परमाणु आयुध हैं कि सब-के-सब चला दिए जायँ तो इस पृथिवी-जैसी कई पृथिवियाँ सुनसान, निर्जन और नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ। इतना बल

किस साँप में है ? किस शेर में है ? किस चीते, वाघ, वघेले, विच्छू या तेंदुए में है ?

इसीलिए मैं कहता हूँ कि इस जगत् में सबसे अधिक 'जगत्', सबसे अधिक चलनेवाला, परिवर्तनशील, आगे वढ़ने अथवा पीछे हटनेवाला, ऊपर उठने या नीचे गिरनेवाला यह मनुष्य है।

गति या चाल कई प्रकार की होती है—गति, प्रगति, अधोगति, अवगति, सुगति, कुगति, दुर्गति, आदि; अर्थात् चलना, आगे बढ़ना, नीचे गिरना, ग़लत चलना, अच्छा चलना, बुरा चलना, अपमानित होकर चलना आदि। और मनुष्य ही एक वह प्राणी है जो प्रत्येक ओर 'गति' करता है।

परन्तु उसको करना क्या चाहिए ?—यह बात भी इसी मंत्र में बताई कि जिसकी चर्चा मैंने आज और पिछले दिनों की है। 'यजुर्वेद' के अंतिम अध्याय का पहला मंत्र है जिसमें कहा गया है कि—**'कस्य स्विद्धनम् ?'**—'किसका है यह धन ?' यह तो ईश्वर का है।

यदि तुम भूल से इसको अपना समझ बैठे हो तो इस भूल का सुधार कर लो। यह तुम्हारा है नहीं।

'मा गृधः'—'मत करो लालच इस धन का !' तुमने कमाया, तो भी यह तुम्हारा नहीं है; नहीं कमाया, तो भी तुम्हारा नहीं है। इसको अपना समझते हो, तो भी इसका लालच मत करो ! दूसरे का समझते हो, तब तो इसका लालच करना उचित है ही नहीं। परन्तु इसके साथ ही वेद ने कहा—**'भुंजीथाः'**—'भोग करो।' इस संसार के पदार्थों को उपयोग में लाओ ! ये फल-फूल, ये पहाड़ व नदियाँ, ये अनाज व सब्ज़ियाँ, ये झूमते हुए बाग़, ये सब तुम्हारे लिए हैं। इनसे मुँह मत मोड़ो ! इनसे काम लो। परन्तु कैसे लो ? वेद ने कहा—**'त्यक्तेन भुंजीथाः'**—'त्यागपूर्वक भोग करो।' बाँटकर खाओ ! पहले दूसरों की चिन्ता करो; उनके कष्टों को, दुःखों को, उनकी आपदाओं को दूर करो। उनके लिए अपने धन को, ऐश्वर्य को, सम्पत्ति को, शक्ति को, ज्ञान को, विद्या को व्यय करो, फिर अपने लिए करो। अन्त में इसी मंत्र में चेतावनी देते हुए कहा—**'यत्किंच जगत्यां जगत्'**—

'इस संसार में जो कुछ भी है—सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी बड़ी कठिनाई से दीख पड़नेवाले कीड़े से लेकर बड़े-से-बड़े उस ब्रह्माण्ड तक कि जिसमें अरबों सौर-मण्डल घूम रहे हैं—वह सब चल रहा है, दौड़ रहा है, भाग रहा है, गतिशील है, परिवर्तित हो रहा है।' यहाँ कुछ भी सदा नहीं रहता; यहाँ किसी को भी सदा नहीं रहना है। यह थोड़ी देर का खेल है। इसलिए इस बात को समझ कि—**'ईशावास्यमिदँ सर्वम्'**—यह सब-कुछ, यह पृथिवी, इसका एक-एक कण, जल की एक-एक बूंद, वायु का एक-एक झोंका, आकाश का एक-एक भाग, सूर्य में दमकती अथवा भूमि पर धधकती एक-एक ज्वाला, सबमें ईश्वर है। इन तारों, सितारों, नक्षत्रों, सौर-मण्डलों, ब्रह्माण्डों में, इन अरबों-खरबों मीलों के मध्य में फैले अनन्त संसार में प्रत्येक स्थान पर ईश्वर है। किसी एक मिलीमीटर का दस करोड़वाँ अंश भी ऐसा नहीं है कि जहाँ ईश्वर न हो। यह सब-कुछ ईश्वर में ओत-प्रोत है। इसलिए भागते हुए, दौड़ते हुए, बदलते हुए जगत् में जितने भी समय तक तुम्हें रहना है, उस ईश्वर को याद करते हुए रहो जो प्रत्येक स्थान पर है, प्रत्येक समय है, प्रत्येक वस्तु में है। ऐसा करना ऊपर उठना है, प्रगति करना है, आगे बढ़ना है।

'उद्यानं ते पुरुषनावयानम्'

ये वेद के शब्द हैं। भगवान् कहते हैं—'हे मनुष्य! मैंने तुम्हें ऊपर उठने के लिए बनाया है, नीचे गिरने के लिए नहीं।'

परन्तु जैसा मैंने कहा, मनुष्य तो अद्भुत प्राणी है। वेद ने कहा है—'**हे मनुष्यो! तुम तो सब-के-सब अमृत के पुत्र हो, उस परमात्मा की सन्तान हो कि जो कभी मरता नहीं है।**' परन्तु कुछ मानव उठे यूरोप में; उन्होंने कहा, 'नहीं महोदय! मानव तो पशुओं की सन्तान है।'

एक डारविन महोदय हुए हैं न, उन्होंने कहा, 'इस संसार में पहले-पहल जल में एक-एक 'सेल' के बहुत छोटे-छोटे कीड़े उत्पन्न हुए। उन्हीं से एक ओर वनस्पति, घास, वृक्ष, झाड़ियाँ और फूल आदि बने, भाँति-भाँति के फल व अनाज उत्पन्न हुए और उनसे पहले छोटे मेंढक,

फिर बड़े मेंढक, तब मछलियाँ, फिर मगरमच्छ, हाथियों से बड़ी छिपकलियाँ और दूसरे प्राणी उत्पन्न हुए। प्रत्येक प्रकार के प्राणी बदलते गए, नए प्राणी उत्पन्न होते गये; पक्षी बने, चतुष्पद बने; वृक्षों पर कूदनेवाले बन्दर बने; बनमानुष बने; गोरिल्ले बने और अन्त में मानव बना। मानव के बनने के पश्चात् आगे कुछ और क्यों नहीं बना? मानव के पश्चात् 'फ़ुलस्टॉप' (पूर्ण विराम-चिह्न) क्यों आ गया, यह उन्होंने बताया नहीं।

उनके पश्चात् एक अन्य सज्जन आए। इनका नाम था 'पावले'। इन्होंने कहा कि 'मानव न केवल पशुओं की सन्तान है, अपितु इसमें आजतक भी पशुओं की 'ख़ू' (आदत) विद्यमान है; पशुओं की विशेषताएँ और कमियाँ (गुणावगुण) विद्यमान हैं। वास्तव में अब भी मानव एक पशु है।'

और फिर एक सज्जन हुए 'मिस्टर सौवरे'। उन्होंने कहा, 'मानव न केवल पशु की सन्तान है, न केवल इसमें पशुओं की आदतें विद्यमान हैं, अपितु इसको रहना भी पशु के समान चाहिए। ये जो बन्धन मनुष्य ने अपने लिए बाँध रक्खे हैं; ये विधि-विधान, क़ायदा-क़ानून, सब ग़लत हैं। मानव पशु है तो उसका लाभ इसी बात में है कि वह पशु के समान रहे।' इस प्रचार का परिणाम यह हुआ है कि वहाँ कहीं तो नंगे रहनेवालों की बस्तियाँ और क्लबें बनने लगीं, कहीं खुले आम अनैतिकता जाग उठी। अमेरिका में एक आन्दोलन खड़ा हो गया है जिसका नाम है 'सैक्स इण्डिपेण्डेन्स मूवमेंट' (Sex Independence Movement) अर्थात्, 'कामवासना को शान्त करने के लिए किसी प्रकार के विधि-विधान का बन्धन नहीं होना चाहिए। माँ, बहन, बेटी, पत्नी, सब वैध हैं। पशुओं में जिस प्रकार इस काम की पूरी स्वतन्त्रता है, वैसे ही मनुष्यों में भी होनी चाहिए।'

इन लोगों के सिद्धान्त के अनुसार कामवासना एक निरी प्यास है; जैसे प्यास लगने पर हम नौकर के हाथ से, नौकरानी के हाथ से, घर के आदमी के हाथ से या होटल के किसी बैरे के हाथ से पानी लेकर पीते हैं, वैसे ही, इस दूसरी प्यास की शान्ति के लिए भी माँ, बहन, बेटी,

पत्नी आदि हैं; इनमें भेदभाव या विवेक करने की कोई आवश्यकता नहीं।

यह है मानव की अधोगति ! ऊपर उठने के स्थान पर वह पशुता की ओर बढ़ा जाता है। परन्तु क्यों बढ़ा जाता है ? इसलिए कि उसको एक भूल-भरी बात बता दी गई। उसे कह दिया गया कि वह पशुओं की सन्तान है। अब देखिये, यदि मानव के पुरखा पशु थे तो मानव पशुओं की पद्धति पर, मार्ग पर चलेगा ही। उनके मार्ग पर चलकर वह पशु ही बन सकता है। वह नीचे को गिर सकता है; ऊँचा नहीं उठ सकता।

परन्तु वेद कहता है कि **'ईशावास्यमिदँ सर्वम्'**—'यह सब-कुछ ईश्वर से भरपूर है।' तुम किसी बन्दर, पिल्ले, हाथी, चमगादड़, मेंढक या मगरमच्छ की सन्तान नहीं हो; अपितु उस परमशक्ति परमेश्वर की सन्तान हो जो अमृत है। वह कभी मरता नहीं; वह इस संसार के कण-कण में विद्यमान है; और उसकी सन्तान हो, भाई, तो उसके मार्ग पर चलो। कैसे चलो ?—यह कल बताऊँगा; आज समय समाप्त हो गया है। ओ३म् शम् !

□

छठा और अन्तिम दिन

[इस दिन वर्षा बहुत हो रही थी। कई दिनों की कष्टदायिनी गर्मी के पश्चात् पिछली रात में बादल उमड़-घुमड़कर आए। कुछ बूँदाबाँदी भी हुई, परन्तु बहुत नहीं। रातभर तड़पती हुई बिजलियाँ चमकती रहीं, बादल गर्जते रहे, उमड़-घुमड़कर घनघोर घटाएँ छाए रहीं। प्रातःकाल वर्षा हुई खूब ज़ोर से। दिनभर होती रही। सायं-समय भी हो रही थी जब पूज्य स्वामी जी महाराज ने एक ही साँस में और ऊँचे स्वर में 'ओ···३···म्' कहने के पश्चात् अपनी कथा आरम्भ की—]

मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो !

कई दिनों तक कष्टदायिनी गर्मी पड़ने के पश्चात् आज इन्द्र देवता प्रसन्न हुए। आज कथा का अन्तिम दिन है। भगवान् ने कृपा की, सम्भवतः इस कारण कि यह आनन्द स्वामी **'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'** की जो बात कहता है, उसकी वह बात कोई सुने-न-सुने, मैं इस बात का प्रमाण देता हूँ कि मैं इस संसार के कण-कण में विद्यमान हूँ। कल मैंने यह मन्त्र सुनाया था—

'नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे'

'नमस्कार है तुझे जो तू बिजलियों में चमकता है, बादलों में गर्जता है।' और आज इसका चमकता, गर्जता, बरसता रूप आपके सामने है; अर्थात् **'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'**—'प्रत्येक स्थान पर ईश्वर-ही-ईश्वर है।' यह सारा जगत् ईश्वर से भरपूर है।

इस धुआँधार वर्षा से दिल्लीवालों को सुख मिला, इसके लिए भगवान् का धन्यवाद ! इससे चमकते, गर्जते, बरसते हुए ईश्वर-रूप के दर्शन हुए, इसके लिए भी भगवान् का धन्यवाद ! परन्तु इसके साथ-साथ एक दूसरी बात भी हुई। आज वर्षा बहुत हो रही है न ! सब

लोग कथा सुनने के लिए आए नहीं; केवल वे माताएँ और सज्जन आए कि जिनके मन में श्रद्धा है; जो ठीक अर्थों में उस बात के सुनने के अधिकारी हैं कि जिसको मैं कहता हूँ, वेद कहता है। आज सुनने-वाले कम हैं। परन्तु, मुझे प्रसन्नता है कि भगवान् की कृपा से केवल वही व्यक्ति यहाँ आए हैं जिनसे मुझे वेद की बात कहनी है; जो इस बात को समझ सकते हैं।

तो मेरी माताओ और सज्जनो ! मैं आपसे चर्चा कर रहा था वैदिक अर्थ-व्यवस्था की, अथवा धन-सम्बन्धी व्यवस्था की।

आज संसार में और हमारे देश में एक अनुपयुक्त आर्थिक स्थिति विद्यमान है। एक ओर तो मुट्ठी-भर लोग हैं जिनके पास इतना धन है कि वे इस धन से तंग हुए जा रहे हैं। दूसरी ओर करोड़ों ऐसे लोग हैं जो अपनी निर्धनता और कंगाली से इस कारण तंग हुए जा रहे हैं कि उनके पास धन नहीं हैं। यह अवस्था ठीक नहीं है। जैसा कि मैंने कल कहा था, यह वह अवस्था है जो बेचैनी उत्पन्न करती है; जो कुछ लोगों के लिए अकारण ही आपदा है और दूसरे करोड़ों के मन में तीव्र घृणा और द्वेष उत्पन्न करती है।

महात्मा विदुर जी ने महाराज धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए कहा था—

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे तु यतन्ते सततोत्थिताः॥
सदोषं दर्शनं येषां सहवासे सुमहद्भयम्।
अर्थादानेमहान् दोषः प्रदाने च महद्भयम्॥

'कुछ लोग ऐसे हैं जो दूसरों की निन्दा ही करते रहते हैं; जो इस बात से प्रसन्न होते हैं कि दूसरों को कष्ट पहुँचा है; जो सदा यह प्रयत्न करते हैं कि एक ही देश में रहनेवाले एक ही राष्ट्र (जाति) के लोग आपस में लड़ पड़ें। ऐसे लोगों को देखना भी पाप है। इनके साथ रहना भी भयावह है, भय से रहित नहीं है। इनसे धन लेने में, अर्थात् दान लेने में भी भय रहता है और कुछ देना भी भयावह होता है।'

क्यों कही महात्मा विदुर ने यह बात ?

इस कारण कि ऐसे लोग वैदिक अर्थ-व्यवस्था को समझ नहीं सकते। वे उनके ग़लत अर्थ लगा लेते हैं। उन्होंने भूलकर यह समझ लिया है कि इस धन के वे स्वामी हैं, उनके अपने लिए है वह। जबकि वेद कहता है कि—

[इसी समय कुछ लोगों ने ऊँचे स्वर से कहा—'आवाज़ नहीं आती।' स्वामी जी अपने समीप बैठे आर्यसमाज के अधिकारियों से बोले, 'अरे भाई! इस लाउडस्पीकर को ठीक कराओ!' और सुननेवालों से ऊँची आवाज़ में कहा, 'आप कुछ समीप आ जाइये; मैं ऊँची आवाज से बोलूंगा; लाउडस्पीकर के बिना भी काम चलेगा।' लोग आगे बढ़े। परन्तु स्वामी जी महाराज ने बोलना आरम्भ किया तो लाउडस्पीकर ठीक हो गया। उनकी ध्वनि दूर-दूर तक पहुँचने लगी। पूज्य स्वामी जी कहते रहे—]

वैदिक अर्थव्यवस्था की बात कह रहा था मैं। वेद कहता है—**'कस्य स्वित् धनम्'**—'किसका है यह धन ?' और मैंने आपको बतलाया कि यह वैभव, सम्पत्ति, मकान, बँगले, भूमि, खेत, बाग़, किसी के नहीं; ये तो उसी के हैं जो प्रजा का पालन करता है। यह सब-कुछ समाज का है; आपके देश का है; राष्ट्र का है और ईश्वर का है जो सदा से है, सदा रहता है, सदा रहेगा।

वेद धन की निन्दा नहीं करता; यह नहीं कहता कि धन कमाओ मत। अपितु यह कहता है कि कमाने के पश्चात् उसपर साँप बनकर मत बैठ जाओ! कमाया है तो उनमें बाँट दो जिनके पास धन नहीं है; जो अनाथ हैं; जिन्हें सहायता की आवश्यकता है। धन को इस प्रयोजन से बाँटो कि तुम्हारा समाज उन्नति करे; तुम्हारा देश बलशाली हो; तुम्हारे चारों ओर जो लोग रहते हैं उनमें सुख जाग उठे। कमाओ अवश्य, परन्तु कमाने के पश्चात् उसको बाँटकर काम में लाओ! 'सौ हाथों से कमाओ; हज़ार हाथों से बाँट दो!'—यह है वैदिक अर्थव्यवस्था! यह है हमारे देश की वह संस्कृति, जिसको आज के वे लोग भी भूल गए हैं जो अपने-आपको इस संस्कृति का ठेकेदार समझते हैं।

देश का सारा धन-वैभव कुछ लोगों के हाथ में एकत्रित हो जाय, कुछ लोग लखपति से करोड़पति, करोड़पति से अरबपति, अरबपति से खरबपति होते जायँ, और देश के शेष लोग निर्धनता, दरिद्रता और विपत्ति में जीवन बिताएँ—ऐसा करने की आज्ञा वेद नहीं देता; हमारी संस्कृति यह अनुमति नहीं देती।

आज हमारे देश में जो बेचैनी है, उसका बहुत बड़ा कारण यही है कि देश स्वतन्त्र हुआ तो कला-कौशल बढ़ा; व्यापार बढ़ा; देश का धन बढ़ा, परन्तु धन सारे देश का बनने के स्थान पर सात या आठ परिवारों का धन बनकर रह गया। ये परिवार जब जो चाहते हैं करते हैं; पैसा इनके पास है; किसी भी वस्तु को ये महँगा करना चाहते हैं तो उसको धड़ाधड़ अधिक मूल्य देकर खरीदना आरम्भ कर देते हैं; बैंकों के गोदामों में रख देते हैं। देश में उस वस्तु की कमी अनुभव होने लगती है; उसका मूल्य बढ़ने लगता है। जब मूल्य पर्याप्त बढ़ जाता है तब ये बड़े-बड़े सेठ और धनपति उस वस्तु को उसके विक्रय-मूल्य से कई गुणा ऊँचे मूल्य पर बेचने लगते हैं। कष्ट होता है करोड़ों लोगों को; लाभ होता है थोड़े-से व्यापारियों को। ऐसी अवस्था में बेचैनी नहीं फैलेगी तो और क्या होगा ?

वेद कहता है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। कमाओ अवश्य, परन्तु उसे बाँटकर खाओ! यह धन तुम्हारा नहीं है; यह ईश्वर का है।

हमारे देश के लोगों ने प्राचीन युग में इस बात को समझा; देखा कि धन का महत्त्व उसके संचय करने में नहीं है, बाँट देने में है। महाराज रघु की बात सुनाई थी न मैंने, जो 'सर्वजित्' यज्ञ करते थे; अपना सब-कुछ दान कर देते थे। यह प्रथा कुछ अच्छे लोगों ने आज से केवल तेरह या साढ़े तेरह सौ वर्ष पहले तक चालू रक्खी। इनमें एक थे महाराज हर्षवर्धन, जिनका राज्य कश्मीर-काबुल से लेकर कामरूप अर्थात् असम तक और उधर गुजरात तथा महाराष्ट्र तक फैला हुआ था। उस समय वेद का प्रचार बहुत नहीं था। कितने ही मत-मतान्तरों की आँधियाँ चल रही थीं। परन्तु यह सब होते हुए भी प्राचीन आर्य-संस्कृति का प्रभाव बचा हुआ था। महाराज हर्षवर्धन की

राजधानी थी 'स्थाण्वीश्वर' में जिसे अब 'थानेसर' कहते हैं और जो कुरुक्षेत्र के समीप है। अब यह थानेसर छोटा-सा कस्बा है। उस समय यह विशाल 'वर्धन साम्राज्य' की राजधानी था। महाराज हर्षवर्धन प्रति पाँचवें वर्ष के पश्चात् 'सर्वजित्'-यज्ञ करते थे। यज्ञ की विधि उस समय बदल गई थी, परन्तु दान की विधि वही थी। इस यज्ञ में एक मूर्ति भगवान् बुद्ध की बनाई जाती थी; एक भगवान् शिव की; एक सूर्य देवता की। इनकी पूजा करके महाराज हर्षवर्धन अपना सारा धन—सोना, चाँदी, हीरे, मोती,—अपना सारा वह कोष दान कर देते थे जिसका वह पाँच वर्ष तक संचय करते रहते थे। अपने तन के कपड़े तक भी दान कर देते थे। प्रयाग में उन्होंने जो यज्ञ किया था, उसमें दस हज़ार बौद्ध भिक्षुओं को सोने की सौ-सौ मुहरें, एक-एक मोती, और कई-कई कपड़े दान दिये गए थे; ऐसे ही विद्वान् ब्राह्मणों को, जो कोई माँगने आया उसको, निर्धनों को, ज़रूरतमंदों को भी। उन दिनों एक चीनी बौद्ध यात्री यहाँ आया हुआ था। उसका नाम था 'हुएनतसाँग'। वह लिखता है कि 'महाराज हर्षवर्धन ने अपना सब-कुछ दे दिया तो तन ढाँपने के लिए धोती अपनी बहन राज्यश्री से माँगकर बाँधी थी।'

यह थी भारत की संस्कृति जिसको दासता के सुदीर्घ काल में यहाँ के देशवासी भूल गए। यह संस्कृति धनोपार्जन का निषेध नहीं करती; कहती है, 'ख़ूब परिश्रम करो! कारख़ाने लगाओ! फ़ार्म बनाओ! बाग़ लगाओ! व्यापार करो! परन्तु कमाने के पश्चात् धन को बाँट-कर खाओ! बाँट दो उन लोगों में जो निर्धन हैं; जिनके पास खाने को पूरा नहीं है; पहनने को पूरा नहीं है; जिनके पास रहने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। उन नवयुवकों की सहायता करो जो धन के अभाव में अच्छी शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते। उन छोटे शिल्पियों की सहायता करो जिनके पास धन नहीं है। ऐसा यत्न करो कि तुम्हारे देश में कोई भी दुःखी, कोई भी निर्धन, कोई भी भूखा, कोई भी अशिक्षित न रहे।'

परन्तु प्रश्न है कि क्यों कर दो ऐसा? इस कारण कि '**कऽस्य स्वित्**

धनम्'—'यह धन तो प्रजापति का है, ईश्वर का है' और ये सब लोग ईश्वर की सन्तान हैं; इस कारण ईश्वर का धन ईश्वर की सन्तति में बाँटकर काम में लाओ।

आप इसको 'भारतीय संस्कृति कहिये', 'हिन्दू संस्कृति', 'आर्य-संस्कृति' या 'मानवता की संस्कृति' कहिये, यह थी हमारी संस्कृति। यह संस्कृति त्याग पर आधारित थी। वह 'त्यागवाद' का युग था और अब 'भोगवाद' का युग आरम्भ हो चुका है। एकत्रित करो और स्वयं साँप बनकर बैठ जाओ। किसी दूसरे को दो नहीं—यह है भोगवाद।

हमारी संस्कृति कहती है—**'मा गृधः'**—'लालच मत कर!' जिस धन को तूने स्वयं कमाया है, उसका भी लालच मत कर! बाँट दे उन लोगों को जिनको उसकी आवश्यकता है और जो उसके बिना कष्ट उठा रहे हैं। और कल मैंने 'वैतरणी' नदी की बात सुनाई थी। यह 'वैतरणी' नदी क्या है? 'वितरण' कहते हैं बाँटने को। जो अपने धन को बाँटता है, जो इसका त्यागपूर्वक भोग करता है, वह, मृत्यु के पश्चात् आराम से अधिक ऊँचे, अधिक सुखी लोकों में पहुँच जाता है—यह है 'वैतरणी नदी'!

परन्तु सुनो! वेद यह नहीं कहता कि भूखे-नंगे होकर बैठ जाओ। वह कहता है, खाओ खूब! जी भरके खाओ! अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाओ! दूध भी पियो, मलाई भी खाओ, पेड़े, रसगुल्ले, क़लाक़ंद, बर्फ़ी, जलेबी, इमरती और प्रत्येक वह वस्तु खाओ जो तुम्हें अच्छी लगती है। कपड़े भी अच्छे पहनो; अपने लिए मकान भी बनाओ; उसमें गाय-भैंस भी रख लो; मोटर भी रख लो। वेद तो स्पष्टतया आदेश देता है—**'भुंजीथाः'**—'भोगो सब-कुछ!' भगवान् ने यह सब तुम्हारे लिए रचा है। परन्तु, इसके साथ ही वेद कहता है—**'त्यक्तेन भुंजीथाः'** 'त्यागपूर्वक भोग करो!' और फिर से कहा कि त्यागपूर्वक भोग इस कारण करो कि यह सारा संसार चलायमान है; नाशवान् है; इसमें तुम्हें सदा रहना नहीं है। जितने समय यहाँ रहो, उतने समय तक उस प्रभु का स्मरण करो जिसने यह सब दिया है और जो इस जगत् के कण-कण में ओत-प्रोत है।

त्याग की यह भावना ही संन्यास की भावना है। ब्रह्मचर्य-आश्रम देख लिया; गृहस्थ-आश्रम देख लिया। अब छोड़ सब-कुछ; वानप्रस्थ-आश्रम में चल! संन्यास-आश्रम में पहुँचकर घर-बार-परिवार को छोड़ दो। एक खेल देखना था तुझे; देख लिया तूने खेल। अपने घर को लौटने की तैयारी कर! वह काम कर जिसके लिए तुझे यहाँ भेजा गया था; जिसके लिए तुझे मानव-देह मिला था।

गृहस्थ-आश्रम बुरा नहीं है। हमारे कितने ही बड़े-बड़े योगी, महात्मा, ऋषि और महर्षि गृहस्थ थे। योगिराज भगवान् शिवशंकर स्वयं गृहस्थ थे। मैं तो उस कैलास पर्वत पर भी हो आया हूँ, जहाँ भगवान् शिव रहते थे। उस स्थान को भी देख आया हूँ जहाँ माँ पार्वती रहती थीं। उन्नीस हज़ार फ़ीट ऊँची उस चोटी को भी देख आया हूँ जहाँ भगवान् शिव और माता पार्वती बैठकर बातें किया करते थे। अच्छे-भले गृहस्थ थे भगवान् शिवशंकर। भगवान् राम भी तो गृहस्थ थे! भगवान् कृष्ण भी; महाराज जनक भी; श्री गुरु नानकदेव जी महाराज भी; और महर्षि याज्ञवल्क्य तो डबल गृहस्थ थे—उनकी दो पत्नियाँ थीं। महर्षि वेद व्यास भी गृहस्थ थे। श्री शुकदेव जी उनके बेटे थे।

मानव-जीवन की यात्रा बहुत लम्बी है। यात्रा में कोई साथी भी होना चाहिये। इसी प्रयोजन से भगवान् ने ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् गृहस्थ-आश्रम में जाने का आदेश दिया। साथी के बिना यात्रा भली-भाँति निभती नहीं। मैं गंगोतरी जाने के लिए उत्तर-काशी पहुँचता हूँ तो खोजता हूँ कि कोई साथी मिल जाय। ५४ मील की यात्रा है। पैदल जाना पड़ता है। साथी के बिना यात्रा भली-भाँति होती नहीं। इसीलिये भगवान् ने कहा—गृहस्थ-आश्रम में जाओ; अपनी जीवन-यात्रा के लिए कोई जीवन-साथी अपने साथ ले चलो—

दीप जले बिन बाती ना, राह कटे बिन साथी ना।

परन्तु कोई भी साथी सदा तो रहता नहीं। यह तो 'चार दिनों की चाँदनी' है, भाई! कभी पति पहले चला जाता है, कभी पत्नी। श्री गुरु नानकदेव जी ने इस नाशवान् संसार को देखा तो वैराग्य की मस्ती

में आकर कहा कि 'यह सब झूठ है; क्योंकि यह सदा रहनेवाला नहीं; और जो सदा न रहे वह सच कैसे है ?' झूठ तो है ही। **'कूड़ राजा, कूड़ परजा।'** पंजाबी में 'कूड़' कहते हैं 'झूठ' को; जो सच न हो; सदा रहनेवाला न हो—

> **कूड़ राजा कूड़ परजा, कूड़ सब संसार है।**
> **कूड़ मण्डप कूड़ माड़ी, कूड़ वस्सनहार है।।**
> **कूड़ सोना कूड़ रूपा, कूड़ पहननहार है।**
> **कूड़ काया, कूड़ कपड़ा, कूड़ रूप अपार है।।**
> **कूड़ मीयाँ, कूड़ बीवी, खप होय खवार।**
> **कूड़ कूड़ से नेह लागा, विसरया करतार।**
> **किस नाल कीजै दोस्ती, सब जग चल्लनहार।।**
> **कूड़ मिट्ठा, कूड़ माख्यो, कूड़ डुब्बे पौर।**
> **'नानक' बखाने वेनती, तुद बाझ कूड़े कूड़।।**

'यह राजा और प्रजा, सारा संसार झूठ है, नष्ट हो जानेवाला है। यह महल और मकान, और इसमें रहनेवाले सब झूठ हैं। यह सोना और चाँदी, और इसको पहननेवाले सब नाशवान् हैं। यह शरीर, ये कपड़े, यह मनमोहक तुम्हारा रूप, यह सब भी नष्ट होनेवाला है। मियाँ और बीवी, पति और पत्नी क्यों खप-खपकर ख्वार हो रहे हैं ? क्या इन्हें ज्ञात नहीं कि यह सब-कुछ थोड़े-से दिनों का खेल है और सदा रहनेवाला नहीं ? जो नष्ट होनेवाला है, उसने नष्ट होनेवाले से नाता जोड़ लिया है; भगवान् को भुला दिया। किसके साथ यहाँ मित्रता करें ? यह सारा ही संसार चलनेवाला है; नष्ट होनेवाला है। यहाँ मीठा भी झूठ है, शहद भी झूठ है; झूठ में सब लोग डूबे हुए हैं। 'नानक' प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे भगवान् ! हे ईश्वर ! हे जगदीश्वर ! परमेश्वर ! तेरे अतिरिक्त सब झूठ-ही-झूठ है, सब नष्ट होनेवाला है।'

तो यह बात है, मेरी प्यारी माताओ और सज्जनो ! किस नाल कीजै दोस्ती, सब जग चल्लनहार !

अन्त में तो सभी को जाना है। यहाँ रहना किसी ने नहीं है। साथी का उपयोग केवल इतना ही है कि यात्रा सुगमता से कट जाती है। परन्तु इस यात्रा का कोई लक्ष्य भी तो है, मेरे भाई ! इस लक्ष्य की ओर चलने की तैयारी करोगे तो फिर परिणाम क्या होगा ?

तुम बैठ गये रेलगाड़ी के फ़र्स्टक्लास एग्ररकंडीशण्ड डब्बे में। बहुत ही सुन्दर डब्बा है। खिड़कियों पर बड़े-बड़े शीशे लगे हैं। शीशों पर पर्दे भी लगे हुए हैं। बाहर कितनी भी गर्मी क्यों न हो, भीतर सुहानी सर्दी में बैठे हो। परन्तु कबतक बैठे रहोगे इस डब्बे में ? जिस स्टेशन पर तुम्हें उतरना है, वहाँ गाड़ी के पहुँचने पर उतरोगे नहीं तो अर्थ-दण्ड देना पड़ेगा। बिना टिकट यात्रा करनेवालों को आजकल बन्दीगृह में भी डाल देते हैं; बन्दीगृह की हवा खानी पड़ती है। ऐसा न भी होगा, तो भी गाड़ी से तो बलात् उतार ही दिये जाओगे। इसलिए स्टेशन आने से पहले अपना बिस्तर बाँध लो, भाई ! अपना सामान तैयार कर लो ! तुम्हें किसी सभा में जाकर भाषण देना है तो सोच लो कि यह भाषण क्या होगा। यदि व्यापार की बातचीत करनी है तो सोच लो कि तुम्हें अपनी बात कैसे आरम्भ करनी है; समाप्त कैसे करनी है। यदि तुम अनजाने नगर में जा रहे हो तो नक्शा निकालकर, डायरी निकालकर देख लो कि तुम्हें जाना कहाँ है। क्योंकि, तुम चाहो या न चाहो, स्टेशन पर उतरना तो अवश्य पड़ेगा ही। गाड़ी का डब्बा कितना ही सुन्दर क्यों न हो, उसमें सदा कोई बैठा नहीं रहता। प्रत्येक मनुष्य को उतरना पड़ता है। जो इस संसार में आया है, वह जायेगा अवश्य।

'जगत्यां जगत्'—'यह चलता हुआ जगत् है'; नष्ट होनेवाला जगत् है। जितना भी अवसर मिले, उसमें उसको स्मरण करो जिसके अतिरिक्त कुछ भी सच नहीं है। जो सदा रहनेवाला है, वही तुम्हारा स्टेशन है, वही तुम्हारा लक्ष्य है।

कई लोग मरने से बहुत डरते हैं; घबराते हैं; कोशिश करते हैं कि किसी प्रकार बच जायँ। शरीर को अर्धांग हो गया है; हाथ-पाँव चलते नहीं; जीभ लड़खड़ाती है; टाँगें सीधी नहीं होतीं; मुँह में एक

भी कौर नहीं जाता; फिर भी चाहते हैं कि डॉक्टर इंजेक्शन लगा दे, कुछ समय और जी लें।

यह मृत्यु का भय भी बड़ा अद्भुत भय है। महर्षि वेदव्यास के नाना निषादराज थे न, वे भी मृत्यु से अत्यधिक डरते थे। ध्यान दीजिये, कितने बड़े महर्षि के नाना! कई अच्छे-अच्छे साधु, महात्मा और योगी उनके पास आते। एक बार नारद जी आये तो निषादराज ने कहा, 'नारद जी! मैं बहुत अधिक चिंतित हूँ, बहुत अधिक घबराहट होती है मुझे।'

नारद जी बोले, 'आप तो इतने बड़े महर्षि के नाना हैं, आपको घबराहट किस बात से है ?'

निषादराज ने कहा, 'मैं मृत्यु से डरता हूँ, नारद जी! बहुत घबराता हूँ। आप सभी देवताओं के यहाँ जाते हैं न ?'

नारद जी बोले, 'जाता तो हूँ!'

निषादराज ने कहा, 'तो आप देवताओं से मेरी सिफ़ारिश कीजिये कि मरूँ नहीं। मैं मरना नहीं चाहता; मुझे मृत्यु से बहुत भय लगता है।'

नारद जी बोले, 'निषादराज! जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य, यह अटल नियम है। मेरी सिफ़ारिश से भी आपके सम्बन्ध में यह नियम कैसे बदल जायेगा ? देवतागण मेरी सिफ़ारिश सुनेंगे नहीं।'

निषादराज ने कहा, 'नारद जी! आप तो टालने की बात कर रहे हैं। आपकी सिफ़ारिश को मानने का निषेध कौन कर सकता है ? और आप यह सिफ़ारिश नहीं करेंगे तो कौन करेगा ?'

नारद जी कुछ समय सोचने के पश्चात् हँसते हुए बोले, 'देखो, निषादराज! तुम महर्षि वेदव्यास के नाना हो; और महर्षि वेदव्यास वह महात्मा हैं जिनकी बात कोई बड़े-से-बड़ा देवता भी नहीं टाल सकता। वे जब आएँ तब उनसे यह बात कहना। मेरे वस का यह रोग नहीं है। हाँ, एक बात करना कि महर्षि वेदव्यास जब सिफ़ारिश करने जायँ तो उनके साथ जाना।'

कुछ दिनों के पश्चात् महर्षि वेदव्यास अपने नाना से भेंट करने

वहाँ आए। निषादराज बोले, 'देखो, पुत्र! तुम्हारी माँ का पिता होते हुए भी मैंने कभी तुम्हें कोई काम करने के लिए नहीं कहा। मगर आज एक काम कर दो मेरा।'

व्यास जी बोले, 'बताइये, क्या काम है ?'

निषादराज ने कहा, 'पहले वचन दो कि जो काम मैं कहूँगा उसे तुम पूरा कर दोगे।'

व्यास जी बोले, 'अच्छी बात है; वचन दिया।'

निषादराज ने कहा, 'तो सुनो, पुत्र! मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मरने का समय समीप है, परन्तु मृत्यु से बहुत डरता हूँ। कोई ऐसा उपाय कर दो कि मैं मरूँ नहीं।'

व्यास जी बोले, 'ऐसा उपाय ?'

निषादराज ने कहा, 'हाँ, तुम किसी देवता से मेरी सिफ़ारिश कर दो।'

व्यास जी सोचते हुए बोले, 'यमराज के पास जाता हूँ, वही कर सकते हैं यह काम।'

निषादराज को नारद जी की बात स्मरण थी; बोले, 'मुझे भी साथ ले चलो।'

दोनों पहुंचे यमराज के पास। यमराज ने उनका स्वागत किया, बोले, 'वेदव्यास जी, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?'

व्यास जी ने कहा, 'ये निषादराज मेरे नाना हैं; मृत्यु से बहुत डरते हैं। ऐसी कृपा कर दीजिये कि ये मरें नहीं।'

यमराज ने कहा, 'परन्तु मैं तो लोगों को मारने का काम नहीं करता; यह तो मृत्यु देवता करता है, उसके पास जाइये। वह आपकी बात टालेंगे नहीं।'

निषादराज को नारद जी की बात फिर स्मरण हो आई; बोले, 'यमराज! आप भी हमारे साथ चलिये न ? व्यास भी सिफ़ारिश करेगा, आप भी कीजिये। एक और एक ग्यारह हो जाते हैं!'

यमराज उनके साथ चले। व्यास जी, निषादराज, और यमराज, तीनों मृत्यु देवता के पास पहुँचे। व्यास जी ने कहा, 'मृत्यु देवता!

ये मेरे नाना निषादराज हैं; मरने से बहुत डरते हैं। आप ऐसी कृपा कीजिये कि नाना जी मरें नहीं।'

मृत्यु देवता बोले, 'आपकी सिफ़ारिश को मैं भला कैसे टाल सकता हूँ जबकि भगवान् यमराज स्वयं आपके साथ हैं ! परन्तु, मैं तो केवल लोगों के प्राण लेने का काम करता हूँ। कब और किसके प्राण लेने हैं, उसका निर्णय काल देवता करता है, उनसे जाकर कहिये। वह आपकी बात को नहीं टालेंगे।'

निषादराज को फिर नारद जी की बात स्मरण आई; बोले, 'मृत्युदेव ! आप भी हमारे साथ चलिये न ! ज़रा आप भी सिफ़ारिश कीजियेगा !'

मृत्यु देवता भी उनके साथ चल पड़ा। मृत्यु, यमराज, व्यास और निषादराज—सब-के-सब काल देवता के पास पहुँचे। व्यास जी ने काल देवता से भी वही प्रार्थना की जो पहले यमराज और मृत्यु देवता से की थी। काल देवता ने कहा, 'आप महर्षि हैं, व्यास हैं, वेदव्यास हैं। आपकी बात मैं टाल नहीं सकता। परन्तु, मेरी कठिनाई यह है कि मैं उसी समय और उसी रीति से किसी को मारने का आदेश दे देता हूँ जिसको कि देवमाता लिख देती हैं। मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता। आप देवमाता से कहिये।'

निषादराज को फिर नारद जी का कथन स्मरण हो आया; बोले, 'तो फिर आप भी तनिक हमारे साथ चलिये !'

लो जी ! निषादराज, महर्षि व्यासदेव, यमराज, मृत्युदेव और काल देवता—सब-के-सब इकट्ठे होकर 'देवमाता' की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचे तो 'देवमाता' ने उन्हें दूर से देखा; सब-कुछ समझा और मुस्करा उठी। ये लोग पहुँचे तो 'देवमाता' ने इनका स्वागत किया। उन्हें आसनों पर बिठाया। उन्हें जलपान कराया। फिर बोली, 'कहिये, आप सब लोगों ने कैसे दर्शन दिये ?'

सबने कहा, 'हम निषादराज के सम्बन्ध में सिफ़ारिश कराने आये हैं।'

देवमाता बोली, 'यह तो आपकी बड़ी कृपा है। परन्तु व्यास

आप तो महर्षि हैं। पहले यह पढ़िये।' यह कहकर उसने व्यास जी के हाथ में एक पत्रा दे दिया।

उसमें लिखा था—'निषादराज जी महर्षि वेदव्यास के नाना हैं; मृत्यु से बहुत डरते हैं। इसलिए मेरा आदेश है कि जबतक स्वयं निषादराज, वेदव्यास, यमराज, मृत्यु देवता और काल देवता इकट्ठे होकर मेरे पास न आवें, तबतक निषादराज की मृत्यु न हो। जब ये सब इकट्ठे होकर मेरे पास आवें, तभी निषादराज की मृत्यु हो।'

और वह यह पर्चा पढ़ ही रहे थे कि निषादराज धड़ाम से गिरे और मर गये।

देवमाता ने कहा, 'अपनी ओर से मैंने ऐसी शर्त लगाई थी कि जो कभी पूरी न हो सके। परन्तु अब मैं क्या करूँ ! यह निषादराज स्वयं ही सबको इकट्ठा करके ले आए और स्वयं अपनी मृत्यु का सामान समेट लाए।'

सो मेरे भाई, मरना तो सबको पड़ता है; चाहे वह वेदव्यास का नाना हो अथवा स्वयं महर्षि वेदव्यास हो। जो आया है, वह जाएगा अवश्य। जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य—

राम गयो, रावण गयो, जाको बहु परिवार।
कहु 'नानक' थिर कुछ नहीं, सपने ज्यों संसार॥

यहाँ स्थिर, सदा रहनेवाला तो कुछ भी नहीं है। सदा रहनेवाला है आत्मा, उसका जीवन कभी समाप्त नहीं होता। भूमि बदलती है, आकाश बदलता है, तारे बदल जाते हैं; युग बदलते हैं; केवल आत्मा विद्यमान रहता है। वह 'अनादि' है, 'अनन्त' है, अर्थात् न उसका कभी आरम्भ होता है और न कभी अन्त होता है। आत्मा का प्रभु विद्यमान रहता है। वह 'अनादि' भी है, 'अनन्त' भी है और 'प्रेम रस', 'आनन्द' से भरपूर भी है।

और सुनो ! मृत्यु बुरी वस्तु नहीं है। वह ऐसी वस्तु नहीं है कि जिससे डरा और घबराया जाय। वह तो माता के समान है जो कहती है, 'मेरे बच्चे ! अब तू थक गया; तेरा शरीर अब काम का नहीं रहा; तेरा नर्व-सिस्टम (स्नायु-प्रणाली) चकनाचूर हो गया। आ,

अब मेरी गोद में आ ! मैं तुझे फिर से नया शरीर दूँगी ।'

नहीं, मृत्यु डरने की वस्तु नहीं है। मैंने कई बार मरकर देखा, इसमें कहीं कोई भय नहीं। और मरना सभी को है। शरीर-रूपी यह कच्चा घड़ा एक-न-एक दिन टूटेगा अवश्य—

यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरे तू साथ।
धक्का लागा फूटिया, कछू न आया हाथ॥

यह तो चलाचली का मेला है और मेला सदा चलता नहीं। यह दौड़ती हुई गाड़ी है जिसका स्टेशन आने पर उतरना पड़ता है। गाड़ी में कोई भी सदा नहीं बैठा रहता। यह तो एक सराय है जिसमें कुछ दिनों के लिए आए और फिर चले गए। सराय में सदा कोई रहता नहीं है। इसलिए बुद्धिमत्ता की बात यह है कि जबतक यहाँ हो, जबतक यह जीवन है, तबतक उस भगवान् की प्राप्ति का यत्न करो कि जिसकी शक्ति, जिसकी कृपा ने यह सब-कुछ दिया है; जो इस **'जगत्यां जगत्'** में, इस चलते हुए, दौड़ते हुए, भागते हुए, बदलते हुए संसार के कण-कण में विद्यमान है—**'ईशावास्यमिदँ सर्वम्।'** यह सब-कुछ तो उस ईश्वर का है जो इसको पालता है। जिसके मन में उसका प्यार जाग उठता है उसके मन में कोई दुःख नहीं रहता; कोई कमी नहीं रहती। श्री गुरु नानकदेव महाराज ने अपनी पवित्र वाणी में कहा था—

जिस मन प्रभु की भुक्ख, उस मन लागे न दुःख।

और दुःख किसको नहीं है, भाई !

'नानक' दुखिया सब संसार, सो सुखिया जिस नाम-आधार।

तो उसका आँचल पकड़ो मेरे प्यारे ! उसका सहारा लो ! तुम्हारा मकान है तो अच्छी बात है; उसमें संगमरमर का फ़र्श लगा है तो अच्छी बात है; उसका एक भाग किराए पर दे रक्खा है तो अच्छी बात है; आपको वेतन मिलता है तो अच्छी बात है; आपके पास ज़मीन है, उसमें उपज होती है, उपज से आय होती है तो अच्छी बात है; परन्तु यह सब सदा रहेगा नहीं। यह सदा रहनेवाला नहीं है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ।।

'उस परमपुरुष को जाने विना, प्रकृति के इस ग्रन्धकार से परे जो ग्रादित्य के समान—सूर्यों के सूर्य महासूर्य के समान—चमकता है उसको पाए विना, उसकी शरण में जाए विना मृत्यु से, दुःखों से, कष्टों से, क्लेशों से, निर्धनता, रोग, पराजय, निरादर, ग्रापदाग्रों ग्रौर बार-बार जन्म ग्रौर मरण के चक्कर से वचने का कोई मार्ग है ही नहीं ।'

धन-वैभव कितना भी क्यों न वढ़ जाय, खेत और फ़ार्म कितने ही बड़े-बड़े क्यों न हो जायँ, कपड़े कितने भी क्यों न मिल जायँ, सोना, चाँदी, हीरे, रत्न कितने ही क्यों न संचित हो जायँ, कारख़ाने कितने ही क्यों न खुल जायँ, व्यापार कितना ही क्यों न वढ़ जाय, खेत में ट्यूबवैल भी लग जायँ, ट्रैक्टर भी काम करने लग जायँ, हार्वेस्टर भी, थ्रैशर भी, मकान कितना ही बड़ा क्यों न हो, सम्पत्ति में कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय, परन्तु…

परन्तु सुनो, सुनो, सुनो ! जवतक वह नहीं मिलता, सुख-शान्ति-चैन कभी मिलेंगे नहीं, यह पक्की वात है । वेद भगवान् से लेकर 'गुरु ग्रन्थ साहव' तक सभी कहते हैं; उपनिषद् भी यही बताते हैं—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।

'जब संसारी लोग ग्राकाश को चमड़ा बनाकर इसके बने जूते पहन लेंगे, तब उस ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा को जाने बिना दुःखों का ग्रन्त भी हो जायगा ।' ग्रर्थात् न यह सारा ग्राकाश कभी चमड़ा बनेगा, न कभी इसके जूते बनेंगे ग्रौर न कभी ग्रात्मा तथा परमात्मा को जाने बिना दुःखों का ग्रन्त ही होगा । एक बात को ग्रसम्भव बताने के लिए उपनिषद् ने दूसरी प्रसिद्ध ग्रसम्भव बात की साथ-साथ चर्चा कर दी ग्रौर समझा दिया कि ये दोनों ही बातें ग्रसम्भव हैं ।

वैज्ञानिकों ने बहुत ही ग्रनोखा काम किया है । प्रकृति से उन्होंने कितने ही लाभ उठा लिये हैं । मनुष्य के लिए कितनी ही सुविधाएँ

उत्पन्न कर दी हैं। मैं विज्ञान का विरोधी नहीं हूँ। मैं विज्ञान द्वारा किये गए अन्वेषणों से, प्राप्त की गई सूचनाओं से, और बनाए गए यन्त्रों से लाभ उठाता हूँ; उनसे काम लेता हूँ। फिर विज्ञान का विरोध कैसे कर सकता हूँ ! मिल जाय तो मोटर में चढ़ता हूँ; रेलगाड़ी में जाता हूँ; बिजली के प्रकाश से काम लेता हूँ; मकानों में रहता हूँ; कपड़े पहनता हूँ। अभी-अभी गत वर्ष मैं थाईलैंड, मलयेशिया, सिंगापुर, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, हाँगकाँग, फ़िलिपीन, जापान देश में गया तो ३६ हज़ार मील की यात्रा कर आया। यह सब-कुछ विज्ञान की सहायता से ही तो किया ! अन्यथा, पैदल तो ३६ हज़ार मील कुछ महीनों में चल नहीं सकता था। अब फिर जाऊँगा तो विज्ञान की सहायता से ही जाऊँगा। मुझे जाना है यूरोप, ब्रिटेन, आयरलैंड, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, गुयाना (जिसको सूरीनाम कहते हैं), कैनाडा, अफ्रीका आदि देशों में। पैदल तो जा नहीं सकता। कुछ महीनों पश्चात् मुझे लौटकर भी आना है। विज्ञान की सहायता से ही यह यात्रा करूँगा।

वैज्ञानिकों ने वस्तुतः बड़ा अनोखा काम किया है, परन्तु केवल प्रकृति-विषयक खोज करने में ही। आत्मा की खोज उन्होंने की नहीं। आत्मा को उन्होंने जाना नहीं। इधर हमारे पूर्व-पुरुषों ने कहा था कि आत्मा को जाने बिना सब व्यर्थ है, अर्थात् जानने की वास्तविक वस्तु तो आत्मा ही है। आत्मा को जाने बिना सच्चा सुख कभी मिलता नहीं।

आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ! आत्मनः खलु दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।

'सुनो, मैत्रेयि ! इस संसार में आत्मा ही वह वस्तु है जिसको देखना चाहिये, सुनना चाहिए, समझना चाहिये, जानना चाहिये। इस आत्मा को जो देख लेता है, सुन लेता है, समझ लेता है, और जान लेता है, वह इस सारे संसार को देख लेता है, सुन लेता है, समझ लेता और जान लेता है।' परन्तु ये वैज्ञानिक आत्मा को ही भूल गए, मात्र प्रकृति की खोज में व्यस्त हो गए। प्रकृति बुरी नहीं है; यह धन, यह अहंकार, यह शरीर, यह मकान, यह पृथिवी, सूरज, चाँद, तारे, यह खेत व बाग़, ये नदियाँ, नाले, झरने, ये गर्जते हुए बादल, उफ़नते हुए सागर—ये

सब प्रकृति के ही रूप तो हैं ! प्रकृति के बिना तो यह सृष्टि बन नहीं सकती। प्रकृति के बिना आत्मा का भी काम चल नहीं सकता। प्रकृति से बना हुआ यह शरीर न हो तो आत्मा करेगा क्या ? आप यहाँ बैठे हैं, मैं बात कर रहा हूँ, आप सुन रहे हैं। यह सुनना और बोलना भी तो प्रकृति के ही रूप हैं !

परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी आत्मा के बिना प्रकृति न होने के बराबर रह जाती है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा के जाते ही यह चुपचाप क्यों पड़ जाता है ? लोग इसको उठाकर श्मशान में क्यों ले जाते हैं ? पिता पुत्र को जला देता है, पुत्र पिता को। पत्नी पति को जला आती है, पति पत्नी को, भाई भाई को, बहन बहन को, बन्धु और सम्बन्धी अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को जला आते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

मैं तिब्बत की यात्रा के लिए गया, कैलास और मानसरोवर को देखने के लिए, तो अल्मोड़ा तक पैदल चला। ढाई सौ मील की दूरी तक जाना था। चलते-चलते अन्त में भारत का वह गाँव आया जिससे आगे भारत की सीमा समाप्त होती है और तिब्बत की सीमा आरम्भ हो जाती है। इस गाँव का नाम है—गर्ब्यांग। वहाँ से कैलास पर्वत एक सौ मील की दूरी पर है। एक सौ मील के इस अन्तर को पार करने के लिए लोग दल बनाकर जाते हैं। वे अपने साथ एक ऐसा गाइड (पथदर्शक) ले लेते हैं जो मार्ग से खूब परिचित हो। हमने भी दल बनाया। इसमें नौ बंगाली साधु, एक मद्रासी और ग्यारहवाँ मैं था। एक 'गाइड' भी ले लिया। उसका नाम था कीचखम्बा। चल पड़े। चलते गए, चलते गए, चलते गए। २८ दिनों तक मैं तिब्बत में घूमा। मानसरोवर झील का घेरा ५४ मील है। वह पन्द्रह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित है। सात दिनों में उसकी परिक्रमा भी की।

एक दिन मैंने अपने गाइड से कहा, 'अरे, कीचखम्बा ! इतना तिब्बत घूम लिया हमने, परन्तु कहीं कोई श्मशान, कोई कब्रिस्तान नहीं देखा; कोई ऐसी नदी भी नहीं देखी जिसमें लोग मरनेवालों को बहा देते हों; तब ये लोग मरनेवालों का क्या करते हैं ?'

कीचखम्बा ने कहा, 'चलते आइये, मैं बताऊँगा।'

और एक दिन हम चल रहे थे तो मार्ग में एक ओर रेत का एक ऊँचा टीला दिखाई दिया। उसके ऊपर एक छोटी-सी झोंपड़ी बनी हुई थी। कीचखम्बा बोला, 'स्वामी जी ! आप इस टीले को देखते हो ?'

मैंने कहा, 'हाँ।'

वह बोला, 'यह वह स्थान है जहाँ मुर्दों के शरीर समाप्त किये जाते हैं।'

मैंने पूछा, 'यहाँ कैसे ?'

वह बोला, 'इस झोंपड़ी में पाँच-छः पुजारी लामा रहते हैं। उन्हें पूज्य माना जाता है। जब कभी कोई मरता है तो उसके सम्बन्धी उसे रेत के इस टीले पर ले आते हैं। कई-कई मीलों से आते हैं वे, क्योंकि ऐसी व्यवस्था सब स्थानों पर है नहीं। वे लोग शव को पुजारी लामाओं को सौंप देते हैं। पुजारी लामाओं के पास हैं लम्बी-लम्बी और पैनी तलवारें। वे शव के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। फिर शंख बजाते हैं तो कई मांसाहारी पक्षी आ जाते हैं। हड्डियों को और मांस को उठाकर उड़ जाते हैं और शव का अन्त हो जाता है।'

मैंने सुना तो मन में कहा—हे भगवान् ! ये लोग शव की बहुत दुर्गति करते हैं। मुझे तो यहाँ मत मारियो ! पटेलनगर में चलकर मारना, यहाँ नहीं।

परन्तु, कोई कहीं भी मरे, आत्मा के बिना इसका कोई मूल्य नहीं। लोग इसको जला देते हैं, दबा देते हैं, बहा देते हैं, टुकड़े-टुकड़े करके पक्षियों के आगे डाल देते हैं। कोई इसको अपने पास रखना नहीं चाहता। तो फिर इस शरीर का मूल्य भला क्या है ? कुछ भी नहीं ! मूल्य है आत्मा का। और वैज्ञानिक लोग शरीर की खोज में तो लगे हैं, प्रकृति के पीछे तो लगे हैं, आत्मा की ओर उनका ध्यान है ही नहीं।

मैं वैज्ञानिकों की निन्दा नहीं करता। प्रकृति की छान-बीन और खोज को भी बुरा नहीं बताता। यह सब करो अवश्य, परन्तु आत्मा को मत भूलो ! यह भी सोचो कि आत्मा क्या है, यह कहाँ से आती

है और कहाँ जाती है ?

वैज्ञानिक यह तो बता सकते हैं कि यह सृष्टि कैसे बनी, परन्तु वे यह नहीं बता सकते कि बनी तो किस प्रयोजन के लिए बनी ? इसका उत्तर वेद देता है—**'इयं ते यज्ञाः तनुधाः'**—'यह तन, यह शरीर तुम्हें इस प्रयोजन के लिए मिला है कि तू अपने मनमोहन प्रभु प्रीतम को प्राप्त कर सके, उसको मिल सके, उसका दर्शन कर सके।'

आपको जाना है कश्मीर। किसी भले सज्जन-मित्र ने आपको मोटर भेज दी कि जाओ, इस मोटर को ले जाओ, इसमें बैठकर कश्मीर देख आओ। अगर आप मोटर को ही सँवारने-सजाने में लग गए तो फिर आप कश्मीर कैसे पहुँचोगे भाई ? यह मोटर तो केवल यात्रा के लिए है; यात्रा का लक्ष्य नहीं है।

मैं नहीं कहता कि मोटर की ओर ध्यान मत दो। उसका ध्यान रक्खो अवश्य ! उसमें पेट्रोल भी डालो, मोबिलॉयल भी डालो, ब्रेक-ऑयल भी डालो, उसका कोई पुर्ज़ा ख़राब हो तो उसे ठीक करवाओ। यह सब-कुछ नहीं करोगे तो मोटर चलेगी कैसे ? अपने शरीर का ध्यान रक्खो, धन कमाओ, कारखाने लगाओ, खेत बनाओ, फ़ार्म बनाओ, प्रकृति के बारे में खोज करके उससे लाभ उठाओ, परन्तु···

परन्तु यह सब व्यर्थ होगा यदि तुम अपने वास्तविक लक्ष्य को भुला दोगे।

एक मनुष्य रोगी हो गया। उसकी पत्नी ने अपने छोटे बेटे से कहा, 'पुत्र ! तेरे पिता जी रोगी हैं। ये पैसे ले और बाज़ार से ओषधि ले आ।'

बेटे ने पैसे लिये; घर से निकला; थोड़ी दूर चला तो देखा कि एक बन्दरवाला बन्दर का तमाशा दिखा रहा था। आपने भी देखा होगा यह तमाशा। बन्दर नाचता है, बन्दरिया नाचती है। बन्दरवाला बन्दरिया से कहता है, 'अरी अपने दूल्हा के साथ जा। इसके साथ तेरा विवाह हो गया है। यह तुझे अपने साथ ले जायगा।' बन्दरिया सिर हिलाकर अस्वीकार कर देती है; उछलकर परे चलती जाती है; मानती नहीं।

मैं भी जब छोटा था तो यह तमाशा देखा करता था। तब भी यह तमाशा ऐसे ही होता था; अब भी ऐसे ही होता है। इतने बरस बीत गए, बन्दरिया अभी तक मानती नहीं।

वह लड़का भी तमाशा देखने लगा। अन्त में तमाशा समाप्त हुआ तो आगे बढ़ा। आगे एक रीछवाला अपने रीछ को नचा रहा था। वह लड़का नाच देखता रहा। नाच की समाप्ति कर आगे बढ़ा तो आगे बाजीगर, नट तमाशा दिखा रहे थे। उसको देखने के लिए खड़ा हो गया।

कितना ही समय बीत गया तो उसकी माँ ने चिन्ता के साथ अपने बड़े बेटे से कहा, 'तेरे छोटे भाई को दवाई लेने के लिए बाज़ार भेजा था, जाकर देख तो सही वह कहाँ रुक गया है। दवाई तो शीघ्र ही मिलनी चाहिये। तू दौड़कर जा।'

बड़ा बेटा दौड़ता हुआ गया। बाज़ीगरों के समीप खड़े अपने छोटे भाई को देखकर बोला, 'अरे, तू यहाँ खड़ा है! तुझे दवाई लाने के लिए भेजा था कि तमाशा देखने के लिए?'

छोटे लड़के ने चौंककर कहा, 'अरे भाई, मैं तो भूल ही गया था।'

हम भी उस लड़के के समान हैं। आये थे आत्मरोग की औषध लेने; व्यस्त हो गए संसार का तमाशा देखने में! ऐसा मत करो भाई! यह अल्प-सा जीवन है। जिस कार्य की सिद्धि के लिए मिला है यह जीवन, उसकी ओर ध्यान दो। तमाशा देखना है तो देखो, परन्तु उस लक्ष्य को मत भूल जाओ जिसकी सिद्धि के लिए इस संसार में आए हो! यह तमाशा तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है। ये पुत्र-पुत्रियाँ, माता-पिता, बहन-भाई, ये भी साथ जानेवाले नहीं हैं।

एक था नवयुवक—अपने माँ-बाप की इकलौती सन्तान! बहन भी उसकी कोई नहीं थी। परन्तु बहुत बिगड़ा हुआ था। बुरी संगति में पड़कर अच्छे माँ-बाप के बच्चे भी बिगड़ जाते हैं। एक दिन वह नवयुवक एक मकान की छत पर बैठा हुआ पतंग उड़ा रहा था। डोरी जा टूटी तो पतंग कटकर दूर जाने लगी। नवयुवक उसकी ओर देखता रहा। पतंग शहर के पार जंगल में चली गई। वहाँ एक महात्मा रहते

थे। उनकी कुटिया के समीप जाकर गिरी वह पतंग। महात्मा ने पतंग उठा ली और कुटिया के भीतर रख दी। उधर वह नवयुवक पतंग को ढूंढता-ढूंढता जंगल में पहुँच गया। पतंग तो दिखाई नहीं दी, वह महात्मा दिखाई पड़ गए। उनके समीप जाकर बोला, 'महाराज! आपने इधर कोई पतंग तो गिरती हुई नहीं देखी ?'

महात्मा ने कहा, 'देखी है अवश्य। क्या वह तुम्हारी है ?'

नवयुवक बोला, 'जी, वह मेरी ही पतंग है। कहाँ है वह ?'

महात्मा ने कहा, 'कुटिया के भीतर रक्खी है, वहाँ से ले लो।'

नवयुवक कुटिया के भीतर गया; पतंग उठाई; बाहर आया; बोला, 'यह मेरी पतंग है, महात्मा जी !'

महात्मा जी ने कहा, 'तेरी है तो तू ले जा।'

वह जाने लगा तो महात्मा ने उसकी ओर देखते हुए कहा, 'कुछ देर ठहरो, नवयुवक ! तुम इतने बड़े हो गए, अब भी पतंग उड़ाते हो ?'

नवयुवक बोला, 'जब ताश खेलने को साथ नहीं मिलता तो मैं पतंग उड़ाकर ही मन बहला लेता हूँ।'

महात्मा ने कहा, 'तुम ताश भी खेलते हो ?'

नवयुवक बोला, 'नहीं महाराज, प्रतिदिन नहीं खेलता। जिस दिन पीनेवाले मित्र नहीं आते, शराब की बोतल नहीं मिलती, उस दिन ताश खेलकर मन बहला लेता हूँ।'

महात्मा ने कहा, 'अरे ! तू कुकर्म भी करता है और शराब भी पीता है ?'

नवयुवक बोला, 'नहीं जी, प्रतिदिन नहीं।

रोज पीता नहीं, पी लेता हूँ गाहे-गाहे।
वह भी थोड़ी-सी मजा मुंह का बदलने के लिए॥

जब नाचनेवाली के यहाँ जाकर रंगरलियाँ मनाने का अवसर नहीं मिलता, तभी पीता हूँ।'

महात्मा ने कहा, 'अरे, अभागे ! यह क्या कर रहा है तू ? देख, यह जवानी फिर नहीं आएगी। इसमें अपने-आपको सुधार सके तो सुधार ले, किसी अच्छे मार्ग पर चल सके तो चल ले; यह चली गई

तो फिर कुछ नहीं होगा !

यह दुनिया इक सराय फ़ानी देखी,
हर चीज यहाँ की आनी-जानी देखी।
जो आके न जावे वह बुढ़ापा देखा,
जो जाके न आवे वह जवानी देखी।

अरे पगले ! यह जवानी जाने के पश्चात् फिर आती नहीं। बूढ़े लोग कमर झुकाए, काँपती टाँगों से चलते, निर्बल दृष्टि से नीचे की ओर देखते हुए इस प्रकार चलते प्रतीत होते हैं जैसे बीती हुई जवानी को ढूँढ रहे हों। और तू इसको इस प्रकार नष्ट किये देता है !'

महात्मा के हृदय से निकली बात का नवयुवक के हृदय पर प्रभाव पड़ा। वह जाता-जाता रुक गया और बोला, 'फिर मैं क्या करूँ महाराज ?'

महात्मा बोले, 'यहाँ सत्संग में आया कर, धीरे-धीरे सुधर जायगा तब। तू बुरा आदमी नहीं है।'

नवयुवक ने पूछा, 'यहाँ सत्संग होता है ?'

महात्मा बोले, 'हाँ, प्रतिदिन प्रातः समय।'

नवयुवक उस सत्संग में आने लगा। महात्मा के उपदेश उसने सुने। उनसे योग के आसन सीखे। यम-नियमों का पालन करना सीखा; प्राणायाम सीखा; प्रत्याहार सीखा; धारणा और ध्यान तक पहुँच गया।

कई महीने बीत गए। एक दिन नवयुवक ने कहा, 'गुरु जी ! आपने मुझपर इतनी कृपा की। मेरा जीवन सुधार दिया। क्या था मैं, क्या बना दिया आपने मुझको ! परन्तु एक बात कहना चाहता हूँ; आपकी आज्ञा हो तो कहूँ ?'

महात्मा बोले, 'कहो, बेटा ! क्या कहना चाहते हो ?'

नवयुवक ने कहा, 'महाराज ! आप मेरे साथियों को समाधि में बैठाते हैं; मुझे नहीं बैठाते; इसका कारण क्या है ?'

महात्मा बोले, 'इसका कारण यह है, पुत्र, कि तू अभी तक अपने परिवार का मोह नहीं छोड़ पाया है।'

नवयुवक ने कहा, 'यह ठीक है, गुरु जी ! परन्तु मेरा परिवार तो मेरे लिए अपने प्राण देता है। माता-पिता का एक ही बेटा हूँ मैं; दूसरी कोई सन्तान उनकी है नहीं। माता मुझे थोड़े-से कष्ट में देखकर ही व्याकुल हो उठती है। पिता मेरी बलाएँ लेते नहीं थकते और मेरी पत्नी···उसकी तो कुछ पूछिये ही मत ! मैं घर पहुँचने में थोड़ी-सी भी देर लगा दूँ तो वह इस प्रकार बेचैन हो उठती है जैसे पानी के बिना मछली। वे लोग जब मेरे लिए अपने प्राण तक देने को तैयार हैं तो उनका मोह कैसे छोड़ दूँ ?'

महात्मा ने कहा, 'अरे बेटे ! कोई किसी के लिए प्राण नहीं देता। यह सब तेरा भ्रम है।'

नवयुवक ने कहा, 'दूसरों की बात मैं नहीं जानता, परन्तु जहाँ तक मेरे परिवार की बात है, यह भ्रम नहीं, सचाई है।'

महात्मा बोले, 'अच्छा, यदि तू प्रमाण ही चाहता है तो एक काम कर। प्राणों को उठाकर सिर में ले-जाने की विधि तुझे सिखाई थी न ? पाँवों के अँगूठों से लेकर शरीर के प्रत्येक भाग से प्राणों को खींचकर ऊपर ले जाना—यह विधि आती है न तुझे ?'

नवयुवक बोला, 'हाँ गुरु जी, आती है।'

महात्मा बोले, 'इसका अच्छा अभ्यास भी है तुझे ?'

नवयुवक ने कहा, 'जी, बहुत अच्छा अभ्यास है मुझे।'

महात्मा बोले, 'तो आज घर पहुँचकर एक काम करना। अपनी माँ से कहना—मेरी तबीयत ख़राब हो रही है; मैं अपने कमरे में जाकर लेटता हूँ; परन्तु यदि मेरी दशा अधिक बिगड़ जाय तो मेरे मरने से पहले मेरे गुरु जी को सूचना दे देना; जब वे आ जायँ, तभी मेरे शरीर को घर से बाहर निकालना। इतना कहकर अपने कमरे में जाकर लेट जाना और प्राणों को खींचकर सिर में चढ़ा लेना। फिर देखना क्या होता है !'

नवयुवक ने घर में पहुँचकर ऐसे ही किया। माँ से कहा, 'माँ, मेरी तबीयत बहुत ख़राब हो रही है। मैं भीतर जाकर लेटता हूँ। लेटने से तबीयत सम्भवतः ठीक हो जाय। परन्तु यदि अधिक बिगड़ जाय और

मैं मरने लगूँ तो मेरे गुरु जी को सूचना दे देना। उनके आए बिना मेरे शरीर को घर से बाहर मत निकालना !'

माँ बोली, 'कैसी बात करता है तू ? तू क्यों मरे, मैं मर जाऊँ !'

नवयुवक ने कहा, 'नहीं, ऐसी बात तो नहीं है, परन्तु मेरी तबीयत बिगड़ती जा रही है, मैं लेटूँगा।' और वह भीतर जाकर लेट गया। उसने अपने प्राण चढ़ा लिये।

लगभग आधा घंटे के पश्चात् उसकी पत्नी ने भीतर जाकर देखा तो पाया कि उसका सारा शरीर ठंडा हो गया है। वह हिलता नहीं; हाथ लगाने और पुकारने पर भी जागता नहीं। घबराकर वह बाहर आई और सास से बोली, 'माँ जी ! भीतर चलो ! देखो, उन्हें क्या हो गया है !'

माँ भीतर गई। बेटे के शरीर को देखा—सारा शरीर बर्फ़-सा ठंडा; होश नहीं; साँस नहीं; नाड़ी नहीं।

उसी समय उसने दुकान की ओर किसी को दौड़ाया। तत्काल नवयुवक के पिता आ गए। डॉक्टर आए, हकीम और वैद्य आए। सबने देखा नवयुवक को और सिर झुकाकर कहा—'यह तो समाप्त हो चुका। पर्याप्त समय हो गया इसको मरे हुए।'

और कुहराम मच गया घर में। माँ ने सिर पीट लिया; रोती हुई बोली, 'हाय ! मैं मर जाती !'

पिता ने छाती पीट ली; बोले, 'तुम्हारे बदले मैं चला जाता बेटा !'

पत्नी सिसकती रही; उसके आँसू थमते ही नहीं थे। मन-ही-मन वह कहती रही, 'तुम मुझे ऐसे क्यों छोड़ गए ?'

मुहल्लेवाले शोक प्रकट करने लगे। कोई कहता, 'कितना अच्छा हो गया था ! कितना मीठा स्वभाव था उसका !'

कोई कहता, 'प्रत्येक व्यक्ति के काम आता था वह; प्रत्येक व्यक्ति की सहायता करता था।'

कोई कहता, 'इतना प्यारा नवयुवक तो नगर-भर में नहीं है।'

सभी दुःखी और सभी शोक-सन्तप्त थे।

इधर जंगल में महात्मा ने कुछ मिश्री ली; उसको पीसा; पीसकर

एक कागज़ में पुड़िया बाँधकर रख ली ।

उधर देर होने लगी तो मुहल्लेवालों ने नौजवान के रोते हुए पिता से कहा, 'यह तो अब मिट्टी है। इसको देख-देखकर कबतक रोओगे ? चलो, इसको श्मशान ले चलो।'

पिता ने माथा पीटते हुए कहा, 'हाँ, ले चलो । मैं तो लुट गया !'

तैयारी होने लगी तो माँ को अपने बेटे की बात याद आई; बोली, 'कुछ देर ठहरो ! उसने कहा था कि मुझे घर से बाहर निकालने से पहले मेरे गुरु जी को सूचना देना । कोई उनके पास जाओ और उन्हें बुला लाओ !'

एक आदमी दौड़ा हुआ गया महात्मा के पास । महात्मा ने पूछा, 'क्यों भाई, क्या बात है ?'

उस आदमी ने रोते हुए कहा, 'महाराज ! वह नवयुवक, जो प्रतिदिन प्रातः आपके पास आता था, वह···'

महात्मा बोले, 'क्या हुआ उसे ? प्रातः तो वह अच्छा-भला था ?'

आदमी ने आँसू पोंछते हुए कहा, 'वह मर गया, महाराज ! मरने से पहले उसने अपनी माँ से कहा था कि मेरे शरीर को घर से बाहर निकालने से पहले मेरे गुरु जी को सूचना दे देना।'

महात्मा बोले, 'यह तो बहुत बुरा हुआ ! खैर चलो, मैं चलता हूँ । हाँ, थोड़ी देर रुको ।' और कुटिया के भीतर जाकर उन्होंने पीसी हुई मिश्री की पुड़िया ले ली और चल पड़े ।

घर पहुँचकर सबको रोते-चीखते-चिल्लाते देखा तो बोले, 'ठहरो, मुझे देखने दो इसे । यह कपड़ा हटा दो इसके चेहरे पर से !'

नवयुवक को देखने के पश्चात् वे बोले, 'यह नवयुवक जीवित हो सकता है, परन्तु एक शर्त है ।'

पिता ने रोते हुए कहा, 'कैसे ? बताइये, मैं करूँगा । जितना भी रुपया लगे ।'

माँ ने कहा, 'कोई भी शर्त क्यों न हो, मैं अपने सारे आभूषण, सारे कपड़े दे दूँगी ।'

पत्नी ने कुछ नहीं कहा; वह मन-ही-मन सोचती रह गई कि

ईश्वर करे ऐसा हो जाय ।

महात्मा बोले, 'मेरी शर्त रुपए, ज़ेवर या कपड़े की नहीं, दूसरी है । यदि कोई आदमी अपने प्राण देने को तैयार हो तो मैं उस व्यक्ति के प्राण इस नवयुवक के शरीर में प्रविष्ट कर सकता हूँ । यह नवयुवक जी उठेगा और व्यक्ति मर जाएगा ।'

महात्मा ने अपने झोले में से पिसी हुई मिश्री की पुड़िया निकाल-कर कहा, 'यह विष है । थोड़ा दूध लाओ, मैं इस विष को दूध में घोल दूंगा । इसके पश्चात् जो चाहे इसको पी ले ।'

दूध आया । महात्मा ने पिसी हुई मिश्री उसमें घोल दी । ग्लास को हाथ में उठाकर कहा, 'अब कहो, कौन इसे पियेगा ?'

और सब चुप ! सबकी ज़ुबानों पर ताले ! अभी-अभी इतने उच्च स्वर में रो रहे थे और अब एकदम सन्नाटा !

महात्मा ने नवयुवक की माता से कहा, 'तू तो कह रही थी—हाय बच्चा ! तू न मरता, मैं मर जाती । अब पी इस दूध को, तेरा बेटा जाग उठेगा ।'

माँ ने कहा, 'पी तो लूं, परन्तु पहले मेरी जन्मपत्री तो देख लो । यदि मेरी दूसरी सन्तान हो सकती हो तो मैं क्यों मरूँ !'

महात्मा ने कहा, 'जन्मपत्री की बात रहने दे । मैंने समझ लिया कि तू मरना नहीं चाहती ।' वही ग्लास नवयुवक के पिता की ओर बढ़ाते हुए महात्मा जी ने कहा, 'लो भाई, तुम पीओ ! तुम्हें अपना बेटा बहुत प्यारा था । तुम कह रहे थे—बेटे ! तुम्हारे बदले मैं चला जाता । पीयो और अब चले जाओ । यह ग्लास पकड़ो, पियो विष !'

पिता ने कहा, 'पी तो लूं, परन्तु मैंने अपना कारोबार इतना फैला रक्खा है कि मेरे बिना वह सँभलेगा नहीं ।'

महात्मा ने नवयुवक की पत्नी की ओर ग्लास बढ़ाते हुए कहा, 'यह तो नहीं पीते, बेटी ! यह झूठ कह रहे थे कि बेटे के लिए प्राण दे सकते हैं । तुम पियो यह विष !'

पत्नी ने ग्लास पकड़ लिया; बोली, 'मैं पीती हूँ, महाराज ! परन्तु मेरी कोख में उनकी निशानी पल रही है । अब आप बताइये कि पियूं

या न पियूं ?'

महात्मा बोले, 'ऐसी बात है तो तुम मत पियो, कोई दूसरा पीवे।'

परन्तु अब पीवे कौन ? सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। एक-एक करके खिसकने लगे कि कहीं यह साधु बाबा हमको ही विष पीने के लिए न कह दे !

महात्मा बोले, 'कोई नहीं पीता तो फिर मैं ही पी लूं ?'

सबने कहा, 'हाँ, महाराज ! आप पी लीजिये, आप तो सन्त हैं।'

[और पंडाल में बैठे सब लोग हँसने लगे। पूज्य स्वामी जी भी हँसते रहे। कितनी ही देर तक यह हँसी रुकी नहीं। तब स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—]

सन्त सम्भवतः इसी काम के लिए होते हैं। जहाँ मृत्यु सम्मुख हो, वहाँ इनको आगे कर दो।

तरुवर फले न आपको, पीती नदी न नीर।
परमारथ के कारणे, सन्तन धरा शरीर ॥

लो जी, महात्मा ने फिर पूछा, 'क्यों भाई, पी लूं ?'

सबने कहा, 'हाँ, पी लो।'

महात्मा ने पूछा, 'मर जाऊँ ?'

सबने कहा, 'हाँ, मर जाओ !'

[और एक बार फिर सब लोग हँस पड़े। स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—]

यह है संसार की दशा ! मरना हो तो साधु मरे। परन्तु, ये महात्मा मरे नहीं। इन्होंने दूध पी लिया। फिर नवयुवक के सिर को हिलाया। उसके प्राण नीचे उतरे। नवयुवक जाग उठा। महात्मा ने सारी कहानी उसको सुना दी; बोले, 'अब बताओ, कौन तुम्हारे लिए प्राण देता है ?'

कोई नहीं देता, महाशय ! ये सब स्वार्थ के साथी हैं। अपने-अपने स्वार्थ को रोते हैं। साथी को नहीं रोते। अब इन आर्यसमाजवालों को भी देख लो ! जबतक मेरी बात में रस है, तबतक 'स्वामी जी, स्वामी जी' और जब यह रस नहीं रहेगा, ये लीमू निचोड़ कहेंगे, 'कौन आनन्द

स्वामी ? हाँ भाई, नाम तो हमने भी सुना है ।' ये सब स्वार्थ के साथी हैं। अपने स्वार्थ के लिए सब-कुछ करते हैं; दूसरे के लिए कुछ नहीं।' मैं सच्ची बात कहता हूँ; कोई अप्रसन्न होता है तो हुआ करे।

परन्तु मेरी माँ, मेरे भाई, इस अल्पावधि जीवन में 'उसको' जानो। उसको पाओ, जिसको भूलकर तुम दुःखी हो, सारा संसार दुःखी है। क्या अमेरिका, क्या रूस, क्या यूरोप, क्या चीन, क्या जापान, क्या पाकिस्तान, क्या भारत, सब दुःखी हैं। इस कारण दुःखी हैं कि आज के संसार के समक्ष केवल एक ही बात रह गई है—धन की बात। धन को 'अर्थ' भी कहते हैं। अर्थ स्वार्थ में बदल गया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी चिन्ता ! प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही ध्यान ! और जब ऐसा होता है तो 'अर्थ' से 'अनर्थ' भी होता है। वह अनर्थ आज हमारे सम्मुख है।

इस संसार में सदा तो किसी को रहना नहीं है। और सब-के-सब संसार समेटने में लगे हैं। वे भूल गए हैं कि इस चक्की में कभी कोई साबुत नहीं रहा—

चलती चक्की देख के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन में आय के, साबुत रहा न कोय ॥

कबीर के पुत्र कमाल जी उनके समीप खड़े थे। जब उन्होंने कबीर जी की यह बात सुनी तो कहा—

चक्की चक्की सब कहें, कीली कहे न कोय।
जो कीली से लग रहा, बचा रहा है सोय ॥

चक्की के भीतर एक कीली होती है। जो दाने उसके साथ लग जाते हैं वे पिसते नहीं, बच जाते हैं। परन्तु इस संसार में कीली क्या है ?—नाम-आधार।

उसके नाम का स्मरण कर ! उसकी आज्ञा में चल ! उसको अपना बना ! उसका सहारा ले ! उसका पल्लू पकड़, फिर तुझे कोई डर नहीं। तुझे कोई पीस नहीं सकता, कोई समाप्त नहीं कर सकता, कोई तुझे हरा नहीं सकता—

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादोऽद्भुतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ।।

'वह राजाओं का राजा, राजाओं का अधिराज, सम्राटों का महासम्राट् है न, जिसने उसको अपना मित्र बना लिया उसकी वह अद्भुत एवं आश्चर्यजनक रीतियों से रक्षा करता है।' तूफ़ान गर्जते हों, बिजलियाँ कड़कती हों, आँधियाँ चलती हों, बवंडर चलते हों, सब ओर डर-ही-डर हो, सबसे बचाकर वह अपने भक्त को ले जाता है। जो इसका मित्र है, सुहृद् है, वह कभी मरता नहीं; कोई उसे हरा नहीं सकता—यह वेद कहता है। मैंने तो अपनी आँखों से इस बात को देखा है।

पाकिस्तान की घोषणा हुई तो लाहौर में प्रत्येक ओर से हिन्दुओं पर आक्रमण होने लगे। उनके मकान जलाये जाने लगे। उनका लहू बहने लगा। पाकिस्तान बना १४ अगस्त को। आग लगाने, लूटमार और हत्याओं की घटनाएँ उससे भी बहुत पहले आरम्भ हो गई थीं। तेरह अगस्त की रात को मैं लाहौर में आर्यसमाज मन्दिर अनारकली के बाहर बने अपने मकान की छत पर खड़ा था। सामने देखा, 'मोरी दरवाज़े' के भीतर मकान जल रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारा नगर जल रहा हो। पीछे देखा तो 'चङ्गड़ मुहल्ला' जल रहा था। उस ओर भी आग थी जिधर 'मिलाप' का काग़ज़ का गोदाम था।

उस समय कुछ किया नहीं जा सकता था। प्रातःकाल रणवीर जीप में बैठकर, ड्राइवर को साथ लिये गोदाम को देखने गया कि वहाँ रक्खे काग़ज़ को आग लगी है या नहीं, कुछ काग़ज़ बचा है या नहीं! वहाँ पहुँचा तो कितने ही गुण्डों ने जीप को घेर लिया, तलवारों और नेज़ों से आक्रमण कर दिया। रणवीर भी घायल हुआ और ड्राइवर भी। रणवीर ने ड्राइवर से कहा, 'मोटर को पीछे हटाओ। आक्रान्ता समझते हैं मोटर पीछे हटेगी तो ये भागेंगे, तब तुम तेज़ी से मोटर दौड़ाकर घर पहुँचना।' ड्राइवर ने ऐसा ही किया। हम सब लोग ऊपर खड़े देख रहे थे। देखा, जीप लहूलुहान हो रही है। रणवीर के शरीर से भी रक्त बह रहा है; ड्राइवर के शरीर से भी। हम नीचे आए। इन्हें

दूसरी मोटर में बैठाकर सर गंगाराम अस्पताल पहुँचाया। स्वयं फिर ऊपर जाकर नीचे की दशा देखने लगे। जिन गुण्डों ने रणवीर पर आक्रमण किया था, वे अब हमारे मकान के साथ सड़क के दूसरे किनारे पर खड़े थे और हमें घूर-घूरकर देख रहे थे। स्पष्ट था कि वे हमारे मकान को आग लगाने का ढंग सोच रहे थे।

मैंने पुलिस को टेलीफ़ोन किया, डिप्टी कमिश्नर को किया, सेना को किया। परन्तु कौन सुनता है ऐसे समय ?

सियःबख्ती में कब कोई किसी का साथ देता है।
कि तारीकी में साया भी जुदा रहता है इन्साँ से ॥

मैंने समझ लिया, अब अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिए। दो ही उपाय हमारे सामने हैं—या तो आग लगने दें और उसमें जलकर मर जायँ, या घर से बाहर निकलकर कहीं जाने का यत्न करें। कोई बच जाय तो सम्भवतः बच जाय।

मैंने सारे परिवार को एकत्र किया और कहा, 'ये दो ही मार्ग हमारे सामने हैं, बताओ तुम क्या करना चाहते हो ?'

सबने कहा, 'आपकी आज्ञा क्या है ?'

मैंने कहा, 'मैं तो समझता हूँ कि यहाँ आग में जल मरने से तो बाहर जाना ही अधिक अच्छा है। बाहर जाने में तो सम्भव है कि हममें से कोई बच जाय।'

सबने कहा, 'तो फिर ऐसा ही कीजिये।'

सब तैयार हो गए। सीढ़ियाँ उतरने लगे तो मैंने कहा, 'पहले एक गीत गाओ मेरे साथ मिलकर—

पितु मातु सहायक स्वामि सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो ॥

गा चुके तो परस्पर नमस्ते की कि कौन जाने फिर कोई किसी को मिले या न मिले, और नीचे उतर पड़े। सड़क पर पहुँचे तो सड़क के पार खड़े गुण्डे धीरे-धीरे हमारे समीप आने लगे। उनके हाथों में तलवारें, नेज़े, लाठियाँ थीं और हमारे पास कुछ भी नहीं। हमें निहत्था देखकर गुण्डे और आगे बढ़े। कुछ ही मिनटों में सारे परिवार की

इतिश्री हो सकती थी। तभी सेना की एक जीप सामने से आई। उसमें बैठा था मेरे छोटे भाई त्रिलोकचन्द जी का बेटा कैप्टेन सुरेन्द्रमोहन। चार डोगरा सिपाही उसके साथ थे—सबके पास बन्दूकें।

जीप थोड़ी देर के लिए रुकी। सुरेन्द्रमोहन ने मेरी ओर देखा, फिर सभी की ओर भी, तब उन गुण्डों की ओर भी जो तलवारें, नेज़े, लाठियाँ लेकर हमारे समीप आ गए थे। उसने परिस्थिति को समझा कि ताया जी गुण्डों में घिरे खड़े हैं। तेज़ी से उसने अपना पिस्तौल निकाला और गोली चलानी आरम्भ कर दी। गोली चली तो गुण्डे तितर-बितर होकर भागे। आधे मिनट के पश्चात् दूर तक उनका चिह्नमात्र भी नहीं था और हम बच गए।

परन्तु कैसे बच गए ?—प्रभु की कृपा से। यदि हम उस जीप के आने से पाँच मिनट पहले नीचे उतर आते तो सबका सफ़ाया हो जाता, कोई बचानेवाला नहीं था। यदि हम पाँच मिनट पश्चात् नीचे उतरते तब भी यह दशा होती। जीप जा चुकी होती और कोई बचानेवाला न होता। प्रभु ने हमें ऐसी प्रेरणा दी कि हम ठीक उस समय नीचे उतरे जब एक मिनट के पश्चात् जीप पहुँच गई—

जाको राखे साइयाँ, मार सके ना कोय।
बाल न बाँका कर सके, जो जग वैरी होय॥

यह निश्चय करो, यह विश्वास मन में जमाओ, फिर कोई डर नहीं, कोई कष्ट नहीं, कोई दुःख नहीं रहेगा। वेद में तो सीधे स्पष्ट शब्दों में कहा है—

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन।

'जो उस प्रभु प्रीतम प्यारे को अपना बना लेता है; जो उसका मित्र है; जो उसको प्यार करता है; उसपर विश्वास करता है, उसको कोई मार नहीं सकता; हरा नहीं सकता; कोई उसे जीत नहीं सकता; गिरा नहीं सकता।' उसकी शरण में जाओ भाई! और वह शरणागत-रक्षक अपने नाम की लाज स्वयं रक्खेगा। नदी में बाढ़ आ गई है, प्रबल प्रवाह में एक हाथी गिर गया है, बहुत बड़ा है वह; परन्तु पानी है गहरा, वेग है उसका प्रबल, इतना बड़ा होने पर भी हाथी बहा चला

जाता है। उधर उसी नदी में एक छोटी मछली, ज लके वेग से निश्चिन्त ऊपर की ओर जा रही है। क्यों ? इस कारण कि मछली ने पानी की शरण ले रक्खी है, जबकि हाथी ने जल की शरण नहीं ली—

जो जाकी शरणी गहे, ताको ताकी लाज।
उलट मीन जल चढ़त है, बहा जात गजराज।।

उसकी शरण लो मेरी माँ, मेरे भाई, मेरी बच्ची ! उसका दामन थामो और कहो—

विनय सुनो हे नाथ जी ! दीनबन्धु भगवान्।
जो आए तुम्हरी शरण, उसका हो कल्याण।।

और फिर कोई तूफ़ान, कोई जल-प्रवाह, कोई भूकम्प, कोई दुःख-कष्ट-क्लेश, कोई भी तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा। यह विश्वास उत्पन्न करो मन में।

परन्तु कई लोग कहते हैं, 'आनन्द स्वामी ! विश्वास तो कर लें, परन्तु वह तो दिखाई ही नहीं देता, फिर विश्वास किसका कर लें ?'

क्यों जी ? जो दिखाई न दे उसपर विश्वास नहीं करना चाहिए न ? उसके सम्बन्ध में यह मान्यता भी नहीं चाहिये न कि वह है ?

परन्तु ईश्वर न करे, कल आपके पेट में दर्द हो जाय, सिर में पीड़ा होने लगे, कान में या दाँत में दर्द होने लगे, आप चिल्लाएँ कि बहुत तेज़ दर्द हो रहा है, सहन नहीं होता। उस समय यदि दूसरे लोग कहें, 'कहाँ है दर्द ? दिखाई तो देता नहीं ? जो दिखाई नहीं देता वह हो कैसे सकता है ?' तब आप क्या कहेंगे ?

नहीं, मेरे भाई ! प्रत्येक वस्तु इन आँखों से दिखाई नहीं देती। कई ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम देखते नहीं, केवल अनुभव करते हैं। परमात्मा भी इन आँखों से देखने की वस्तु नहीं है, वह अनुभव करने की वस्तु है, अन्तरात्मा से देखने की वस्तु है। उसको देखने के लिए अन्तरात्मा को जगाना पड़ता है, अन्तरात्मा के भीतर शक्ति लानी पड़ती है, तभी वह दिखाई देता है—

सबको है तेरे जल्वए-रंगीं की जुस्तजू।
यह सोचता नहीं कोई तावे-नज़र भी है ?

अरे ! देखना चाहते हो तो पहले यह भी देखो कि उसे देखने की ताब और शक्ति तुममें है ? इस साधारण सूर्य को तो तुम देख नहीं सकते। देखते हो तो सामने काला किया हुआ शीशे का टुकड़ा रखकर, उसके भीतर से; नहीं तो तुम्हारी ये आँखें चुँधिया जाती हैं। और यह चाहते हो कि इन्हीं आँखों से देखें सूर्यों के सूर्य उस महासूर्य को कि जो अरबों-खरबों से भी अरबों गुणा अधिक प्रकाश से प्रकाशित है। कैसे देखोगे उसे ?

[तभी पूज्य स्वामी जी ने घड़ी की ओर देखा और बोले—]

समय रह गया अब थोड़ा। यह तो पर लगाकर उड़ा जाता है। वास्तविक प्रयोजन की बातें अभी कितनी ही हैं, इसलिए थोड़े शब्दों में कहता हूँ। पहली बात यह है कि जीवन को सफल बनाना है तो अपने धन को बाँटकर काम में लाओ ! त्यागपूर्वक भोगो ! दूसरे को देकर खाओ ! कारण कि यह धन तुम्हारा नहीं है; यह सबका है। यह कभी किसी के साथ गया नहीं; तुम्हारे साथ भी जाएगा नहीं।

श्री गुरु नानकदेव जी महाराज प्रभु-नाम का प्रचार करते हुए पहुँचे बग़दाद में। वहाँ राज करता था खलीफ़ा। लोगों ने बताया कि खलीफ़ा कंजूस बहुत है, किसी को एक कौड़ी भी नहीं देता। गुरु जी मुस्कराए; कुछ कंकर इकट्ठे कर लिये उन्होंने। कंकरों की एक पोटली बाँध ली और अपने पास रख ली। सत्संग होने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् खलीफ़ा भी सत्संग में आया। सत्संग की समाप्ति पर गुरु जी ने खलीफ़ा को आशीर्वाद दिया; बोले, 'खलीफ़ा ! मैं हूँ फ़कीर; स्थान-स्थान पर घूमता-फिरता हूँ। मेरे ये कंकर सँभालकर अपने पास रख लो। मैं कभी मिलूँगा तो आपसे ले लूँगा।'

खलीफ़ा ने कहा, 'परन्तु ये तो कंकर हैं ?'

गुरु जी बोले, 'मेरे लिए यह कंकर ही बहुमूल्य हैं। आप इन्हें सँभालकर रख लें।'

खलीफ़ा ने पूछा, 'परन्तु आप इन्हें वापस कब लेंगे ?'

गुरु जी बोले, 'यह तो मुझे भी मालूम नहीं। हो सकता है कि इस जीवन में फिर कभी आपसे भेंट ही न हो सके ! इस अवस्था में ये

ह धन किसका है ?

कंकर मैं आपसे उस दिन ले लूँगा जबकि सब लोग ख़ुदा के सामने अपना-अपना हिसाब देने के लिए इकट्ठे होंगे।'

खलीफ़ा ने कहा, 'परन्तु वहाँ मृत्यु के पश्चात्, क़यामत के दिन ये कंकर मैं साथ लेकर कैसे जाऊँगा ?'

गुरु जी ने मुस्कराते हुए कहा, 'अपने इतने माल-ख़ज़ाने ले जाओगे सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात, तो ये थोड़े-से कंकर नहीं ले-जा सकते ?'

खलीफ़ा की आँखें खुल गईं। उसने कहा, 'यह सब-कुछ तो साथ जाएगा नहीं। कभी किसी के साथ नहीं गया।'

गुरु जी बोले, 'तो फिर यह सब एकत्र क्यों करते हो ? बाँट दो उन लोगों को जिन्हें आवश्यकता हो !'

तो भाई, यह धन-सम्पदा साथ जानेवाली नहीं है। इसे बाँटकर खाओ ! पंजाबी में कहा है, '**वण्ड खाए, खण्ड खाए**'—'जो बाँटकर खाता है, वह खाँड खाता है।' इससे अगली बात मैं कहता नहीं; वह कड़वी है और कड़वी बात कहने का मेरा स्वभाव नहीं है। बाँटकर खाओ, क्योंकि यह धन तुम्हारा नहीं है। '**कस्य स्वित् धनम्**'—'यह धन प्रजापति का है।' ये प्रजापति तीन हैं—परमात्मा, देश की व्यवस्था करनेवाली सरकार, और लोगों को महान् बनानेवाली अर्थात् उनका भला सोचने व करनेवाली संस्थाएँ। इनके लिए धन का उपयोग करो, क्योंकि यह धन उनकी वस्तु है।

और हमारे देश में क्या हुआ ? कुछ थोड़े-से पूंजीपति यह समझ बैठे कि यह सारा धन उनका है। वे धन का संचय करने लगे। उन्होंने यह नहीं देखा कि देश के करोड़ों लोगों की दशा क्या हो रही है ! और जब इन्दिरा जी ने कहा, 'यह धन तुम्हारा नहीं, देश का है; इस देश की उन्नति के लिए, छोटे शिल्पकारों, गरीबों की सहायता के लिए प्रयुक्त करो' तो ये सब लोग चिल्ला उठे। सबने इन्दिरा जी को गालियाँ देना आरम्भ कर दिया। उनके विरुद्ध व्यूह-रचना करना आरम्भ कर दिया। परन्तु इन्दिरा जी तो सिंही हैं सिंही ! मैं तो हृदय से इस पुत्री को आशीर्वाद देता हूँ। कितना उत्तम वक्तव्य दिया है आज इसने ! प्रत्येक पाटल, माटल, फ़ाटल का रहस्य खोलकर रख

दिया है। कोई घबराहट नहीं इन्दिरा जी के मन में। इन बड़े-बड़े घाघ राजनीतिज्ञों का कोई भय नहीं है उन्हें। मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूं तो केवल इसलिए नहीं कि वह वीर हैं, साहसी हैं; अपितु इसलिए भी कि वह वेद के अनुसार चल रही हैं। उन्होंने समझा है कि वास्तविक हिन्दू-संस्कृति, भारतीय संस्कृति, आर्य-संस्कृति क्या है।

और वह संस्कृति यह है कि सारी सम्पदा एक स्थान पर एकत्र नहीं होनी चाहिये; कुछ लोगों के अधिकार में नहीं रहनी चाहिये; यह सम्पदा ईश्वर की है—ईश्वर की लक्ष्मी। ईश्वर सर्वव्यापक है। इसलिए यह सम्पदा सब लोगों के पास होनी चाहिए, सब लोगों को उससे लाभ होना चाहिए।

धन कमाया तुमने; अच्छा किया। और कमाओ। परन्तु इस बात को मत भूलो कि यह धन उनकी सहायता में व्यय होना चाहिए जो रोगी हैं उनका रोग दूर करने के लिए; जो बेसहारा हैं उनको सहारा देने के लिए; जो दरिद्रता और पिछड़ेपन के शिकार हैं उनकी निर्धनता और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए; जो श्रम करते हुए भी पेटभर खाना नहीं जुटा पाते उनकी सहायता के लिए; निर्धन विद्यार्थियों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने के लिए; जो कष्ट में हैं उनके कष्ट को दूर करने के लिए; जो धन न होने के कारण अपने व्यवसाय-व्यापार, अपनी शिल्प-कुशलता, अपनी योग्यता को देश के लाभ के लिए प्रयुक्त नहीं कर पाते, उनकी सहायता के लिए; अच्छे विचारों का प्रचार करने के लिए; लोगों को सुख पहुँचाने के लिए; देश को शक्तिशाली बनाने के लिए, उसको उन्नत करने के लिए, आगे ले-जाने के लिए।

यह है धन का वास्तविक उपयोग ! उसका ठीक विनियोग !

यही है हमारी संस्कृति ! यह है वैदिक अर्थ-व्यवस्था ! वैदिक धन-प्रबन्ध कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को सुख मिलता है; किसी के मन में किसी दूसरे के लिए घृणा, ईर्ष्या अथवा असूया की भावना उत्पन्न नहीं होती।

परन्तु इस प्रकार धन का उपयोग करते हुए भी इस बात को मत

भूलो कि यह शरीर तुम्हें मिला है तो अल्प-अवधि के लिए ही। इस अल्प-अवधि में ही तुम्हें अपने मनमोहन प्रभु को पाना है। यह नहीं हो सका तो यह मानव-जीवन व्यर्थ चला जाएगा।

कई लोग पूछते हैं, 'क्यों जी ! ईश्वर के दर्शन भी हो सकते हैं ?'

मैं कहता हूँ, 'हाँ, हो सकते हैं। बताऊँ, कैसे हो सकते हैं उस मन-मोहन के दर्शन ?

[और पूज्य स्वामी जी ने मुस्कराते हुए पूछा, 'क्यों भाई, बता दूं ? सुनना चाहते हैं आप ?' कितने ही लोगों ने कहा, 'बताइये अवश्य।' स्वामी जी ने हँसते हुए फिर पूछा, 'सच ही बताऊँ ?' कई आवाजें आईं, 'हाँ बताइये !' स्वामी जी हँसते हुए बोले—]

लो, बता ही देता हूँ। ईश्वर को जान लेना कठिन नहीं है। वह तुम्हारे भीतर बैठा है। भीतर देखो तो वह प्रेमप्यारा मोहन दिखाई देगा अवश्य। बाहर तो उसकी लीला है। और कैसी लीला है यह ? कहीं हिम से ढकी चोटियाँ हैं; घाटियों में बर्फ़ के टीले सोये पड़े हैं; उनके निर्मल नीर से भरी नदियाँ बाहर निकल रही हैं; और कहीं धधकते हुए, उबलते हुए, आग उगलते और धुएँ के बादल उठाते हुए ज्वालामुखी हैं; कहीं इतने घने जंगल हैं कि सूर्य की धूप वहाँ पहुँच नहीं पाती। इतने ऊँचे पेड़ कि उनकी चोटियाँ देखने का प्रयत्न कीजिये तो पगड़ी नीचे गिर पड़े। इतने सघन वृक्ष तथा लताएँ-पौधे कि उनमें से होकर निकलना कठिन हो जाय। कहीं सैकड़ों मीलों तक फैली हुई मरुभूमि-ही-मरुभूमि। कहीं लहलहाते खेत हैं कि जिनमें सैकड़ों प्रकार के अनाज, सब्ज़ियाँ और ओषधियाँ जाग रही हैं। कहीं झूमते हुए बाग़; उनमें ऐसे-ऐसे फल कि नाम सुनकर ही मुँह में पानी आ जाय। कहीं इतने सुन्दर फूल कि आँखों में मस्ती छा जाय। कहीं बड़े-बड़े जलप्रपात; कहीं गर्जते बादल; चमकती बिजलियाँ, चीखती आँधियाँ, कहीं मानव, करोड़ों-अरबों मानव; एक से एक की आकृति नहीं मिलती; पता नहीं कितने साँचे हैं प्रभु के पास ! एक बार जो डिज़ाइन बना दिया, फिर दूसरी बार बनता नहीं। कहीं हज़ारों प्रकार के पशु; लाखों प्रकार की मछलियाँ; करोड़ों प्रकार के कीड़े। और फिर यह

सूर्य, चाँद और तारे; ये अनन्त और अनन्त ब्रह्माण्ड; यह सब उसी अपरम्पार की अपरम्पार लीला है।

इस लीला को देखो अवश्य! देखो और सिर झुकाओ! प्रभो, तू महान् और अतिमहान् है। तेरी शक्ति परम शक्ति है; तेरा ज्ञान परम ज्ञान है; तेरी सुन्दरता परम सुन्दरता है; तेरी माधुरी परम माधुरी है। देखो इस लीला को! परन्तु स्मरण रक्खो कि यह सब उसकी लीला है। यह ईश्वर नहीं है; मनमोहन प्रीतम प्यारा प्रभु नहीं है। उस मनमोहन का दर्शन करना हो तो भीतर की ओर देखना होगा। वह तुम्हारे भीतर बैठा है। अपने संकल्प को दृढ़ करके भीतर चलो। बाहरी संसार को भूल जाओ! भीतर की ओर देखो!

हरि के देखन को भला क्या लागत है मोल!
बाहर के पट बन्द कर, अन्दर के पट खोल॥

यदि बाहर के द्वार खुले रहें, मन तुम्हारा बाहर की ओर दौड़ता रहे तो भीतर बैठा हुआ प्रभु कैसे दिखाई देगा?

यह शरीर तो मोटर है, भाई! एक मंज़िल तक जाने को मिली है, और मंज़िल है इसके भीतर। तुम व्यर्थ ही इस मोटर की चिन्ता में घुले जाते हो! दो नहीं तो चार रोटियाँ खिला दो इस शरीर को, परन्तु तुम तो इसके पीछे पड़ गए! किसी से पूछो, 'क्यों जी! इतना परिश्रम क्यों करते हो? दिन-रात चिन्ता करना, पसीना बहाना! आत्म-चिन्तन, प्रभु-चिन्तन के लिए तुम्हें अवकाश ही नहीं मिलता?' इसका उत्तर मिलता है, 'यह सब तो पेट के लिए करना ही पड़ता है।'

एक महाभण्डार है यह पेट। इसका नाम लेकर तुम सब-कुछ एकत्र करते जाते हो। कोठी पेट में चली जाती है; मोटरगाड़ी पेट में चली जाती है; ट्रांज़िस्टर, टेलिविज़न, सब-कुछ पेट में चला जाता है। अरे सुनो! हमारे दादा का निर्वाह यदि टेलिविज़न के बिना होता था तो हमारा क्यों नहीं हो सकता? ये सब तो व्यर्थ के चोंचले हैं। और फिर क्यों जी, यह सिगरेट क्यों पीते हो? लोग तो रोगों के निवारण के लिए व्यय करते हैं और तुम रोग समेटने के लिए व्यय करते हो! अमेरिका के डॉक्टरों ने पता लगाया है कि कैंसर रोग ८० प्रतिशत

मामलों में सिगरेट पीनेवालों को होता है। अमेरिका की सरकार ने सिगरेट बनानेवाली कम्पनियों को आदेश दिया है कि वे सिगरेट की प्रत्येक डिब्बी पर लिखें 'सिगरेट पीने से कैंसर रोग होना सम्भव है।' परन्तु इतने पर भी सिगरेट पीनेवाले तो रुकते नहीं। हमारे देश में प्रतिवर्ष कितनी सिगरेट बनती और फूंकी जाती हैं, क्या आप यह जानते हैं? साढ़े छः हज़ार करोड़ सिगरेट प्रतिवर्ष इस देश में बनती हैं। ढाई सौ करोड़ रुपए इनका मूल्य होता है और ढाई सौ करोड़ रुपया इस देश के सिगरेट पीनेवाले धुएँ में उड़ा देते हैं। सोचकर देखो, इस ढाई सौ करोड़ रुपए को देश की उन्नति तथा निर्धनों के कल्याण के लिए प्रतिवर्ष व्यय किया जाय तो क्या-कुछ हो जाएगा! अरे भाई, यह रुपया जो व्यर्थ में नष्ट कर रहे हो, इससे शुद्ध घी खरीदकर हवन क्यों नहीं करते? किसी भूखे को रोटी क्यों नहीं दे देते? किसी नंगे को कपड़े क्यों नहीं ले देते? किसी असहाय को सहारा क्यों नहीं दे पाते? मैं चैलेंज करके कहता हूँ कि सिगरेट पीने से तो निरी हानि-ही-हानि है। यदि कोई लाभ हो तो कोई मुझे आकर बताए! परन्तु बताएगा कौन? पिछले दिनों मैं पटियाला क्षेत्र में गया तो देखा कि वहाँ कई सिख भी सिगरेट पीते हैं। मैंने आश्चर्य से कहा, 'अरे! तुम सिख होकर सिगरेट पीते हो? गुरु जी ने तो कहा था कि तम्बाकू छोड़ दो।'

उनमें से एक व्यक्ति ने उत्तर दिया, 'ये सिरघुटे पीते हैं तो हम क्यों न पियें?'

देखो, इस प्रकार अपने धन को नष्ट मत करो! और फिर इस धन को कमाने के लिए श्रम कर-करके मत करो! मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ तो बहुत थोड़ी हैं। वे थोड़े ही परिश्रम से पूरी हो जाती हैं। दिन-रात में २४ घंटे होते हैं; इन २४ घंटों में कुछ समय तो ऐसा निकालो कि जिसमें भगवान् के नाम का स्मरण कर सको, प्रभु का भजन कर सको!

अपने घर के भीतर कोई स्थान निश्चित कर लो जहाँ प्रभु-भजन के अतिरिक्त दूसरी कोई बात न हो। वहाँ पहुँचो प्रतिदिन!

सम्पदा, सम्पत्ति और मकानों के स्वामी होकर भी ग़रीब हो—

जगत सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहीं कोय।
धनवन्ता सोई जानिये, महेश पदारथ होय॥

वास्तविक धनी तो वह है जो भगवान् का नाम लेता है; भगवान् के नाम पर दान देता है; भगवान् के पुत्रों (मनुष्यों) से मीठा बोलता है। यह जीभ बसे हुए घरों को उजाड़ भी सकती है; उजड़े हुए घरों को बसा भी सकती है। यह अमृत भी देती है, विष भी।

एक था राजा, बहुत कड़वा बोलता था। प्रत्येक को गाली, प्रत्येक को ताऽना, प्रत्येक को धमकी! अब राजा के आगे बोले कौन?

एक दिन राजा ने अपने दरबारियों से कहा, 'जो-जो आदमी जिस वस्तु को सबसे अधिक बुरा समझता है, उसे मेरे पास लाओ।'

दूसरे दिन कोई आदमी तो मल-मूत्र उठाकर ले गया; कोई कीचड़; कोई सड़ा-गला खाद्य-पदार्थ; कोई साँप; कोई बिच्छू। एक आदमी था बुद्धिमान्। वह एक मृत-पुरुष की जीभ काटकर ले गया। राजा ने उस जीभ को देखकर पूछा, 'इसमें क्या बुराई है?'

उस आदमी ने कहा, 'महाराज! बुराइयों की जड़ तो यही है। तलवार के काटे का उपचार है, परन्तु कड़वी बात से हृदय पर जो घाव हो जाता है उसका कोई उपचार नहीं है। और यह जीभ ही है जो कड़वी बात बोलती है।'

राजा को कुछ लज्जा अनुभव हुई कि सबसे अधिक कड़वा तो मैं ही बोलता हूँ। परन्तु वह चुप रहा। दूसरे दिन उसने दरबारियों को कहा, 'जिस-जिसको जो वस्तु सबसे अधिक अच्छी लगती है, उसको मेरे पास लाओ!'

दूसरे दिन कोई आदमी घी लाया, कोई चीनी, कोई शहद, कोई फूल, परन्तु जो आदमी पहले दिन किसी मृतक की जीभ काटकर लाया था, वह आज फिर एक मृतक की जीभ काटकर ले आया।

राजा ने कहा, 'अरे! तू तो कहता था कि जीभ से अधिक बुरी कोई वस्तु नहीं। आज तुझे सबसे अधिक अच्छी वस्तु लाने के लिए कहा था, तू फिर जीभ ही ले आया?'

काल, सायंकाल, दोनों समय, या एक ही समय। उस समय भूल जाओ इस संसार को, इस पूंजीपतिपन, ज़मींदारी, दुकानदारी, गृहस्थी, चौकीदारी को। केवल प्रभु की ओर ध्यान लगाओ ! तुम्हारे घर में बच्चे और परिवार के लोग हैं तो सबको कहो कि वहाँ आकर आरती करें, गायत्री मन्त्र का जाप करें। लगातार प्रतिदिन ऐसा करोगे तो 'सतोगुण' जागने लगेगा; रजोगुण तथा तमोगुण कम होने लगेंगे। उस समय यह भी ध्यान में लाओ कि आज मैंने कोई बुरा काम तो नहीं किया ? किया है तो प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में नहीं करोगे। नहीं किया है तो प्रभु को धन्यवाद दो कि तुम बचे रहे। इसे कहते हैं— **'आत्म-निरीक्षण'**—'अपने-आपको देखना'। प्रतिदिन देखो अपने-आपको कि कहीं कोई मैल न आ गई हो। देखो कि किसी को आपने कोई कड़वी बात तो नहीं कह दी ? अपनी जिह्वा से किसी का मन तो नहीं दुखाया ?

यह जीभ है न भाई, यह आग भी है, यह अमृत भी है। कड़वी बात कहे तो दूसरे के हृदय को जलाकर रख देती है; मीठी बात कहे तो दूसरे के हृदय को अमृत से भी भर सकती है—

कुटिल वचन सबसे बुरा, जार करे सब छार।
साधु-वचन जल-रूप है, बरसे अमृत-धार॥

जिह्वा का प्रयोग ठीक-ठीक, मीठी बात बोलने के लिए करो। स्वयं जलो नहीं; दूसरों को जलाओ नहीं !

ऐसी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

जीभ का ठीक प्रयोग करने से, मीठा बोलने से, सबका आदर करने से ही मनुष्य बड़ा बनता है—

दीन, ग़रीबी, बन्दगी, सब सों आदर-भाव।
कहँ 'कबिरा' सोई बड़ा, जा का मधुर स्वभाव॥

तुम्हारे पास धन है, सम्पदा है, सम्पत्ति है तो इससे दूसरों को क्या ? यदि तुम उनसे मीठा नहीं बोलते, यदि तुम प्रभु का भजन नहीं करते, यदि तुम अहंकार किये बिना दूसरों को दान नहीं देते तो तुम

सम्पदा, सम्पत्ति और मकानों के स्वामी होकर भी ग़रीब हो—

जगत सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहीं कोय।
धनवन्ता सोई जानिये, महेश पदारथ होय॥

वास्तविक धनी तो वह है जो भगवान् का नाम लेता है; भगवान् के नाम पर दान देता है; भगवान् के पुत्रों (मनुष्यों) से मीठा बोलता है। यह जीभ वसे हुए घरों को उजाड़ भी सकती है; उजड़े हुए घरों को बसा भी सकती है। यह अमृत भी देती है, विष भी।

एक था राजा, बहुत कड़वा बोलता था। प्रत्येक को गाली, प्रत्येक को ताऽना, प्रत्येक को धमकी! अब राजा के आगे बोले कौन?

एक दिन राजा ने अपने दरबारियों से कहा, 'जो-जो आदमी जिस वस्तु को सबसे अधिक बुरा समझता है, उसे मेरे पास लाओ।'

दूसरे दिन कोई आदमी तो मल-मूत्र उठाकर ले गया; कोई कीचड़; कोई सड़ा-गला खाद्य-पदार्थ; कोई साँप; कोई बिच्छू। एक आदमी था बुद्धिमान्। वह एक मृत-पुरुष की जीभ काटकर ले गया। राजा ने उस जीभ को देखकर पूछा, 'इसमें क्या बुराई है?'

उस आदमी ने कहा, 'महाराज! बुराइयों की जड़ तो यही है। तलवार के काटे का उपचार है, परन्तु कड़वी बात से हृदय पर जो घाव हो जाता है उसका कोई उपचार नहीं है। और यह जीभ ही है जो कड़वी बात बोलती है।'

राजा को कुछ लज्जा अनुभव हुई कि सबसे अधिक कड़वा तो मैं ही बोलता हूँ। परन्तु वह चुप रहा। दूसरे दिन उसने दरबारियों को कहा, 'जिस-जिसको जो वस्तु सबसे अधिक अच्छी लगती है, उसको मेरे पास लाओ!'

दूसरे दिन कोई आदमी घी लाया, कोई चीनी, कोई शहद, कोई फूल, परन्तु जो आदमी पहले दिन किसी मृतक की जीभ काटकर लाया था, वह आज फिर एक मृतक की जीभ काटकर ले आया।

राजा ने कहा, 'अरे! तू तो कहता था कि जीभ से अधिक बुरी कोई वस्तु नहीं। आज तुझे सबसे अधिक अच्छी वस्तु लाने के कहा था, तू फिर जीभ ही ले आया?'

उस आदमी ने कहा, 'महाराज ! जीभ सबसे अधिक बुरी वस्तु भी है, और सबसे अधिक अच्छी वस्तु भी है। जब यह मीठा बोलती है—सम्मान से, आदर से, प्यार से बोलती है, जब यह स्वामी के गीत गाती है और भगवान् का नाम लेती है, तब इससे अधिक अच्छी कोई वस्तु नहीं होती।'

तो भाई, जीभ से ठीक रीति से काम लो। ऐसे ही देखो कि तुम्हारी आँखों से, तुम्हारे हाथ से, तुम्हारे पाँव से कोई बुरा काम तो नहीं हुआ ? कोई बुराई हुई है तो उसको दूर करो ! इस प्रकार आत्मा को शुद्ध और मन को शांत करके प्रभु का ध्यान करो ! जो माँगना हो, उससे माँगो। जो माँगोगे वह मिल जाएगा। उससे बड़ा दानी भला कौन है ? उसने तो संसार ही तोल दिया है—

साईं मेरा बानिया, सहज करे व्यौपार।
बिन डांडी, बिन पालड़े, तोले सब संसार॥

अद्‌भुत बनिया, अद्‌भुत व्यापारी है यह। लेता किसी से कुछ नहीं; देता जाता है सब-कुछ। तराजू के बिना ही सारे संसार को तोलकर देता हुआ कहता है, 'ले, यह मैंने तेरे लिए बनाया है।'

महर्षि दयानन्द ने कहा था, 'जल से लेकर मुक्ति तक प्रत्येक वस्तु ईश्वर से माँग। वह प्रत्येक वस्तु देता है।'

और यदि इन दुनियावालों से माँगना है तो माँगो भाई ! परन्तु ये बहुत देंगे नहीं। बहुत माँगोगे तो ये थोड़ा-सा दे देंगे और फिर हज़ार को बतायेंगे कि मैंने अमुक व्यक्ति को पाँच रुपये दिये हैं।

इस अवस्था का कहते हैं, 'अन्तर्मुखी' होना। परन्तु कष्ट की बात तो यह है कि लोग भीतर की ओर न देखकर बाहर की ओर देखते हैं। मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, जंगलों, गुफ़ाओं में उसको खोजते फिरते हैं। मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों में सत्संग के लिए जाओ अवश्य, परन्तु यदि उस स्वामी को देखना है, उस प्रीतम को देखना है तो वह मिलेगा इस शरीर के भीतर ही। यही इस मानव-शरीर का महत्त्व है। इसी कारण कहते हैं कि मानव-शरीर चौरासी लाख शरीर पार कर लेने के पश्चात् मिलता है। फिर जिसको तुम बाहर ढूंढते फिरते हो, वह शरीर

तो वह देता नहीं ?'

मैंने कहा, 'अपनी झोली को देख, वह फटी हुई तो नहीं है ? वह तो औवड़ दानी है, देता ही जाता है । परन्तु यदि तेरी झोली फटी हुई है, तेरे हृदय के पल्लू में छेद है, तेरे मन की झोली में छेद है तो जो कुछ देगा वह नीचे गिर जाएगा, तुझे कुछ मिलेगा नहीं ।'

यह प्रेम यदि तुम्हारे मन में है तो किसी शान्त-एकान्त स्थान पर आसन लगाकर, आँखें मींचकर बैठ जाओ । कोई बुरा विचार मन में आवे तो उससे कहो, गेट आउट ! बाहर निकल जाओ ! यदि संसार की ओर चित्त जाए—शरीर का, घर का, परिवार का, कारोबार का—तो उससे कहो, चले जाओ यहाँ से ! और तब 'ओ३म् तत्सत्' का जाप आरम्भ करो ! 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्'—वह ईश्वर ही, जिसका नाम 'ओ३म्' है, सब स्थानों पर विद्यमान है—ऐसा कहते जाओ । तब मन भी लगेगा, चित्त भी एकाग्र होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे—

विषय का विषधर जब डसे, 'ओ३म्' जड़ी को चबा ।
है नाग-दमन यह ओषधि, ढूँढन दूर न जा ।।

नेवला साँप से लड़ता है; साँप नेवले को डँसता है; परन्तु नेवले को एक बूटी याद है जो साँप के विष को दूर कर देती है । नेवला दौड़कर उस बूटी के पास जाता है, उसको खाकर फिर साँप से लड़ने लगता है । बार-बार ऐसा ही होता है और साँप थक जाता है । नेवला बूटी खाकर प्रत्येक बार हरा और नया हो जाता है और अन्त में इस योग्य हो जाता है कि साँप के टुकड़े-टुकड़े कर दे ।

हमारे भीतर भी कई प्रकार के साँप हैं—ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के साँप । इनके विष को उतारने के लिए यदि कोई ओषधि, कोई जड़ी, कोई बूटी है तो वह है 'ओ३म्' का नाम । आत्मा के लिए सबसे बड़ी ओषधि 'ओंकार' है । इन्द्रियों की कामनाओं का साँप जब डँसे तब यह ओषधि काम आती है ।

परन्तु इस प्रकार जब भगवान् को स्मरण करो, जब 'ओ३म्' और 'ओ३म् तत्सत्' का जाप करो तो इस इस बात को मत भूलो कि बाहर

के संसार को तुम्हें भूल जाना है। ऐसा अनुभव करता है कि इस बाह्य संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि ऐसी अवस्था में भी यदि आप 'ओ३म्' का जाप करते हैं, गायत्री मन्त्र का जाप करते हैं, 'जपुजी साहब' का पाठ करते हैं, तब यदि संसार के शेष लोगों के साथ आपका व्यवहार अच्छा नहीं है तो आप इस प्यारे प्रभु को अपयश देने का कारण बन रहे हो। आपके रहन-सहन और व्यवहार को देखकर ही लोग आपके ईश्वर के विषय में अपनी सम्मति बनाएँगे कि आप कैसे हैं। सच तो यह है कि ऐसे भक्तों ने ही ईश्वर को कलंकित किया है जिनका व्यवहार अच्छा नहीं है—

खुदा के बन्दों को देखकर ही, खुदा से मुनकिर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस खुदा के, वो कोई अच्छा खुदा नहीं है।।

यदि अपने प्रेमी, अपने मनमोहन, परमानन्दमय परमात्मा को कलंकित नहीं करना चाहते तो अपने व्यवहार को अच्छा रक्खो! ऐसा रक्खो कि उससे सबको सुख हो, सब उसका स्वागत करें।

इस प्रकार करो तो तीन स्थान बताता हूँ शरीर के, जहाँ ध्यान करने से तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे। एक है हृदय; दूसरा आज्ञाचक्र अर्थात् दोनों भँवों का मध्यवर्ती माथे का भाग; और तीसरा है ब्रह्म-रन्ध्र अर्थात् मस्तिष्क का वह भाग जहाँ मस्तिष्क के दोनों भाग जुड़ते हैं। और फिर एक छोटे-से स्थान में सारे शरीर के भीतर अपनी शक्ति से सबको चलाता हुआ आत्मा रहता है और उसके साथ परमात्मा भी। उसका ध्यान करने की एक विधि यह है कि प्रकाश का ध्यान करो! प्रकाश के रूप में उस प्रभु को देखने का यत्न करो—**'द्युमन्तं ध्यामहे'**—प्रकाश (अनन्त ज्योति) उसका एक रूप है। परन्तु यदि यह ज्योति दिखाई न दे तो 'ओ३म्' के द्वारा इसका ध्यान करो। अपने भीतर बार-बार 'ओ३म्' को लिखो, उसको देखो, उसका दर्शन करो। इस 'ओ३म्' की महिमा सभी गाते हैं। वेद कहता है **'ओ३म् क्रतो स्मर!'** और 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' में आता है 'एक ओंकार सत नाम'।

इस ओंकार का ध्यान करो! आरम्भ में तुम्हारा मन लगेगा न [illegible] लगातार अभ्यास करते रहो, करते रहो तो अन्त में यह

तो वह देता नहीं ?'

मैंने कहा, 'अपनी झोली को देख, वह फटी हुई तो नहीं है ? वह तो औवड़ दानी है, देता ही जाता है। परन्तु यदि तेरी झोली फटी हुई है, तेरे हृदय के पल्लू में छेद है, तेरे मन की झोली में छेद है तो जो कुछ देगा वह नीचे गिर जाएगा, तुझे कुछ मिलेगा नहीं।'

यह प्रेम यदि तुम्हारे मन में है तो किसी शान्त-एकान्त स्थान पर आसन लगाकर, आँखें मींचकर बैठ जाओ। कोई बुरा विचार मन में आवे तो उससे कहो, गेट आउट ! बाहर निकल जाओ ! यदि संसार की ओर चित्त जाए—शरीर का, घर का, परिवार का, कारोबार का—तो उससे कहो, चले जाओ यहाँ से ! और तब 'ओ३म् तत्सत्' का जाप आरम्भ करो ! 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्'—वह ईश्वर ही, जिसका नाम 'ओ३म्' है, सब स्थानों पर विद्यमान है—ऐसा कहते जाओ। तब मन भी लगेगा, चित्त भी एकाग्र होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे—

विषय का विषधर जब डसे, 'ओ३म्' जड़ी को चबा।
है नाग-दमन यह ओषधि, ढूँढन दूर न जा॥

नेवला साँप से लड़ता है; साँप नेवले को डँसता है; परन्तु नेवले को एक बूटी याद है जो साँप के विष को दूर कर देती है। नेवला दौड़कर उस बूटी के पास जाता है, उसको खाकर फिर साँप से लड़ने लगता है। बार-बार ऐसा ही होता है और साँप थक जाता है। नेवला बूटी खाकर प्रत्येक बार हरा और नया हो जाता है और अन्त में इस योग्य हो जाता है कि साँप के टुकड़े-टुकड़े कर दे।

हमारे भीतर भी कई प्रकार के साँप हैं—ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के साँप। इनके विष को उतारने के लिए यदि कोई ओषधि, कोई जड़ी, कोई बूटी है तो वह है 'ओ३म्' का नाम। आत्मा के लिए सबसे बड़ी ओषधि 'ओंकार' है। इन्द्रियों की कामनाओं का साँप जब डँसे तब यह ओषधि काम आती है।

परन्तु इस प्रकार जब भगवान् को स्मरण करो, जब 'ओ३म्' और 'ओ३म् तत्सत्' का जाप करो तो इस इस बात को मत भूलो कि बाहर

के संसार को तुम्हें भूल जाना है। ऐसा अनुभव करना है कि इस बाह्य संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि ऐसी अवस्था में भी यदि आप 'ओ३म्' का जाप करते हैं, गायत्री मन्त्र का जाप करते हैं, 'जपुजी साहब' का पाठ करते हैं, तब यदि संसार के शेष लोगों के साथ आपका व्यवहार अच्छा नहीं है तो आप इस प्यारे प्रभु को अपयश देने का कारण बन रहे हो। आपके रहन-सहन और व्यवहार को देखकर ही लोग आपके ईश्वर के विषय में अपनी सम्मति बनाएँगे कि आप कैसे हैं। सच तो यह है कि ऐसे भक्तों ने ही ईश्वर को कलंकित किया है जिनका व्यवहार अच्छा नहीं है—

खुदा के बन्दों को देखकर ही, खुदा से मुनकिर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस खुदा के, वो कोई अच्छा खुदा नहीं है॥

यदि अपने प्रेमी, अपने मनमोहन, परमानन्दमय परमात्मा को कलंकित नहीं करना चाहते तो अपने व्यवहार को अच्छा रक्खो! ऐसा रक्खो कि उससे सबको सुख हो, सब उसका स्वागत करें।

इस प्रकार करो तो तीन स्थान बताता हूं शरीर के, जहाँ ध्यान करने से तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे। एक है हृदय; दूसरा आज्ञाचक्र अर्थात् दोनों भँवों का मध्यवर्ती माथे का भाग; और तीसरा है ब्रह्म-रन्ध्र अर्थात् मस्तिष्क का वह भाग जहाँ मस्तिष्क के दोनों भाग जुड़ते हैं। और फिर एक छोटे-से स्थान में सारे शरीर के भीतर अपनी शक्ति से सबको चलाता हुआ आत्मा रहता है और उसके साथ परमात्मा भी। उसका ध्यान करने की एक विधि यह है कि प्रकाश का ध्यान करो! प्रकाश के रूप में उस प्रभु को देखने का यत्न करो—**'द्युमन्तं ध्यामहे'**—प्रकाश (अनन्त ज्योति) उसका एक रूप है। परन्तु यदि यह ज्योति दिखाई न दे तो 'ओ३म्' के द्वारा इसका ध्यान करो। अपने भीतर बार-बार 'ओ३म्' को लिखो, उसको देखो, उसका दर्शन करो। इस 'ओ३म्' की महिमा सभी गाते हैं। वेद कहता है **'ओ३म् क्रतो स्मर!'** और 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' में आता है 'एक ओंकार सत नाम'।

इस ओंकार का ध्यान करो! आरम्भ में तुम्हारा मन लगेगा नहीं। परन्तु लगातार अभ्यास करते रहो, करते रहो तो अन्त में यह

तो वह देता नहीं ?'

मैंने कहा, 'अपनी झोली को देख, वह फटी हुई तो नहीं है ? वह तो औवड़ दानी है, देता ही जाता है । परन्तु यदि तेरी झोली फटी हुई है, तेरे हृदय के पल्लू में छेद है, तेरे मन की झोली में छेद है तो जो कुछ देगा वह नीचे गिर जाएगा, तुझे कुछ मिलेगा नहीं ।'

यह प्रेम यदि तुम्हारे मन में है तो किसी शान्त-एकान्त स्थान पर आसन लगाकर, आँखें मींचकर बैठ जाओ । कोई बुरा विचार मन में आवे तो उससे कहो, गेट आउट ! बाहर निकल जाओ ! यदि संसार की ओर चित्त जाए—शरीर का, घर का, परिवार का, कारोबार का—तो उससे कहो, चले जाओ यहाँ से ! और तब 'ओ३म् तत्सत्' का जाप आरम्भ करो ! 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्' 'ओ३म् तत्सत्'—वह ईश्वर ही, जिसका नाम 'ओ३म्' है, सब स्थानों पर विद्यमान है—ऐसा कहते जाओ । तब मन भी लगेगा, चित्त भी एकाग्र होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे—

विषय का विषधर जब डसे, 'ओ३म्' जड़ी को चबा ।
है नाग-दमन यह ओषधि, ढूँढन दूर न जा ॥

नेवला साँप से लड़ता है; साँप नेवले को डँसता है; परन्तु नेवले को एक बूटी याद है जो साँप के विष को दूर कर देती है । नेवला दौड़कर उस बूटी के पास जाता है, उसको खाकर फिर साँप से लड़ने लगता है । बार-बार ऐसा ही होता है और साँप थक जाता है । नेवला बूटी खाकर प्रत्येक बार हरा और नया हो जाता है और अन्त में इस योग्य हो जाता है कि साँप के टुकड़े-टुकड़े कर दे ।

हमारे भीतर भी कई प्रकार के साँप हैं—ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के साँप । इनके विष को उतारने के लिए यदि कोई ओषधि, कोई जड़ी, कोई बूटी है तो वह है 'ओ३म्' का नाम । आत्मा के लिए सबसे बड़ी ओषधि 'ओंकार' है । इन्द्रियों की कामनाओं का साँप जब डँसे तब यह ओषधि काम आती है ।

परन्तु इस प्रकार जब भगवान् को स्मरण करो, जब 'ओ३म्' और 'ओ३म् तत्सत्' का जाप करो तो इस इस बात को मत भूलो कि बाहर

के संसार को तुम्हें भूल जाना है। ऐसा अनुभव करना है कि इस बाह्य संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि ऐसी अवस्था में भी यदि आप 'ओ३म्' का जाप करते हैं, गायत्री मन्त्र का जाप करते हैं, 'जपुजी साहब' का पाठ करते हैं, तब यदि संसार के शेष लोगों के साथ आपका व्यवहार अच्छा नहीं है तो आप इस प्यारे प्रभु को अपयश देने का कारण बन रहे हो। आपके रहन-सहन और व्यवहार को देखकर ही लोग आपके ईश्वर के विषय में अपनी सम्मति बनाएँगे कि आप कैसे हैं। सच तो यह है कि ऐसे भक्तों ने ही ईश्वर को कलंकित किया है जिनका व्यवहार अच्छा नहीं है—

ख़ुदा के बन्दों को देखकर ही, ख़ुदा से मुनकिर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस ख़ुदा के, वो कोई अच्छा ख़ुदा नहीं है।।

यदि अपने प्रेमी, अपने मनमोहन, परमानन्दमय परमात्मा को कलंकित नहीं करना चाहते तो अपने व्यवहार को अच्छा रक्खो! ऐसा रक्खो कि उससे सबको सुख हो, सब उसका स्वागत करें।

इस प्रकार करो तो तीन स्थान बताता हूँ शरीर के, जहाँ ध्यान करने से तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे। एक है हृदय; दूसरा आज्ञाचक्र अर्थात् दोनों भँवों का मध्यवर्ती माथे का भाग; और तीसरा है ब्रह्म-रन्ध्र अर्थात् मस्तिष्क का वह भाग जहाँ मस्तिष्क के दोनों भाग जुड़ते हैं। और फिर एक छोटे-से स्थान में सारे शरीर के भीतर अपनी शक्ति से सबको चलाता हुआ आत्मा रहता है और उसके साथ परमात्मा भी। उसका ध्यान करने की एक विधि यह है कि प्रकाश का ध्यान करो! प्रकाश के रूप में उस प्रभु को देखने का यत्न करो—'**द्युमन्तं ध्यामहे**'—प्रकाश (अनन्त ज्योति) उसका एक रूप है। परन्तु यदि यह ज्योति दिखाई न दे तो 'ओ३म्' के द्वारा इसका ध्यान करो। अपने भीतर बार-बार 'ओ३म्' को लिखो, उसको देखो, उसका दर्शन करो। इस 'ओ३म्' की महिमा सभी गाते हैं। वेद कहता है '**ओ३म् क्रतो स्मर!**' और 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' में आता है 'एक ओंकार सत नाम'।

इस ओंकार का ध्यान करो! आरम्भ में तुम्हारा मन लगेगा नहीं। परन्तु लगातार अभ्यास करते रहो, करते रहो तो अन्त में यह

सफलता मिलेगी अवश्य। लगभग एक वर्ष के पश्चात् वह भीतर बैठा हुआ, भक्तों से प्यार करनेवाला भगवान् दर्शन देगा। वह प्रभु पत्थर नहीं है; कठोर हृदय नहीं है। तुम उसे प्यार करोगे तो वह तुम्हारे प्यार का प्रत्युत्तर प्यार से देगा अवश्य। तुम उसे अपने सामने खड़ा हुआ पाओगे—चमकता हुआ, जगमगाता हुआ, उस रस-आनन्द की वर्षा करता हुआ जिसका कभी अन्त नहीं होता।

आज इस कथा का अन्तिम दिन है। जो बात मैं आपको बताना चाहता था, वह मैंने कह दी। परन्तु मेरी उम्र बहुत छोटी है न, कोई कड़वी बात कह दी हो तो उसके लिए मुझको क्षमा कर देना! मैं केवल बीस वर्ष का हूँ और बीस वर्ष का बालक कोई ग़लत बात कह दे तो उसको क्षमा कर देना चाहिए। आप कहेंगे, 'तू बीस वर्ष का नहीं, ८६ वर्ष का है।' परन्तु खुशहालचन्द को मरे तो २० वर्ष हो चुके। बीस वर्ष पहले आनन्द स्वामी का जन्म हुआ था, इस कारण आनन्द स्वामी तो बीस वर्ष का ही है। इससे कोई भूल हुई हो तो इसको क्षमा कर देना! ओ३म् शम्!

□□

महात्मा आनन्द स्वामी कृत पुस्तकें

महामन्त्र
दो रास्ते
तत्त्वज्ञान
प्रभु-दर्शन
प्रभु-भक्ति
बोध कथाएँ
सुखी गृहस्थ
मन की बात
एक ही रास्ता
घोर घने जंगल में
मानव जीवन गाथा
भक्त और भगवान्
प्रभु-मिलन की राह
शंकर और दयानन्द
आनन्द गायत्री कथा
उपनिषदों का सन्देश
मानव और मानवता
यह धन किसका है ?
देश-भक्ति प्रभु-भक्ति
वैदिक सत्यनारायण व्रत कथा
दुनिया में रहना किस तरह ?
श्री म० आनन्द स्वामी सरस्वती जीवनी (उर्दू)
म हा मं त्र (उर्दू)
The Only Way (अंग्रेजी)
Gayatri Discourses (अंग्रेजी)

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती कृत

महर्षि दयानन्द की मूल प्रति से सम्पादित

सत्यार्थप्रकाश

आठ महत्त्वपूर्ण परिशिष्टों से युक्त संस्करण है

इसमें सत्यार्थप्रकाश के इतिहास पर पं० भगवद्दत्त जी की एक
विवेचनापूर्ण भूमिका सम्मिलित की गई है।
आधार-ग्रन्थ-सूची के साथ
पारिभाषिक शब्दों,
निर्दिष्ट व्यक्तियों एवं स्थानादि की
अकारादि क्रम से उपयोगी सूचियाँ दी गई हैं।
प्रत्येक अनुच्छेद पर क्रम-संख्या
प्रत्येक पृष्ठ पर विषय-सामग्री का संकेत-शीर्षक

छपाई एवं रूप-सज्जा में आकर्षक !
बढ़िया सिलाई और उत्तम बँधाई !

सत्यार्थप्रकाश पर उठी शंकाओं का चतुर्वेद-भाष्यकार
पण्डित जयदेव विद्यालंकार कृत समाधान के साथ
पहली बार लागत-मूल्य पर पढ़ें

संग्रहणीय संस्करण : मूल्य २५.०० केवल

प्राप्ति-स्थान

गोविन्दराम हासानन्द

४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६